ॐ श्री परमात्मने नमः

चतुर्थ अध्याय

गीता के चतुर्थ अध्याय का नाम है ज्ञान कर्म संन्यास योग। गीता का हर अध्याय एक योग है। योग का अर्थ है जुड़ना और आध्यात्मिक दृष्टि से उसका अर्थ हुआ जीवात्मा का परमात्मा से जुड़ना। यह कई उपायों से हो सकता है। जब जीव की निराशा, हताशा, दुःख और कुंठा उसे भगवान से जोड़ देती है तो वह विषाद योग होता है जो गीता का प्रथम अध्याय है। जब वह अपनी ज्ञानवृत्ति के द्वारा अपने तत्वरूप को पहचानता है तो वह सांख्य योग है। जब वह अपनी क्रियाशक्ति को परमात्मा की प्राप्ति का साधन बनाता है तब वह कर्म योग है जो तृतीय अध्याय में बताया गया। अब इस अध्याय का नाम दिया गया है ज्ञान कर्म संन्यास योग। कर्म संन्यास अर्थात् वैराग्य जीवन की घटनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप भी होता है। कोई बड़ा अनिष्ट हो जाए, कोई दुःखद घटना घटे और हमें वैराग्य हो जाए, हम कर्मों को त्याग कर वन में चले जाएं तो इस कर्म संन्यास के पीछे ज्ञान नहीं। अतः यह हमारे दुःख का निदान नहीं कर सकता। पूर्ण आनन्द की प्राप्ति तो ऐसे कर्म सन्यास से ही संभव है जो ज्ञान से जन्म लेता है। ऐसे में कर्म का त्याग भी नहीं करना पड़ता और कर्म सन्यास भी सध जाता है। अर्थात् कर्म बने रहते हैं पर उनकी बंधनकारी शक्ति समाप्त हो जाती है। यह चतुर्थ अध्याय वास्तव में तृतीय अध्याय का ही विस्तार है।

तृतीय अध्याय के अंत में अर्जुन ने एक प्रश्न पूछा था कि मनुष्य जानते हुए भी पाप कर्म में लिप्त कैसे हो जाता है? उसका उत्तर भगवान ने दे दिया तब अर्जुन एक बार तो संतुष्ट सा लगा। उसके पास पूछने को और कुछ नहीं था।

गुरु जब शिष्य को कठिन विषय समझाता है तो शिष्य सुनता रहता

है और सब बातों को ग्रहण करने की कोशिश करता है। उस समय यदि मन में प्रश्न न उठे तो इसका मतलब यह नहीं होता कि उसे सम्पूर्ण ज्ञान हो ही गया है। अभी तो वह केवल सुन रहा है, फिर घर पहुंच कर वह मनन करने बैठेगा तब उसे लगेगा, 'यह बात तो ऐसे कैसे कही गई?' तब बहुत से प्रश्न जागेंगे और वह सोचेगा कि अगले दिन पूछूंगा। यहां तो सारा ज्ञान अभी ही देना है। भगवान जानते हैं कि बहुत सी बातें बतानी अभी बाकी हैं।

उदाहरण के लिए- उन्होंने कहा अपने कर्ता-भोक्ता का भाव त्याग कर कर्म करो लेकिन यह नहीं बताया कि ये कार्य कैसे किए जाते हैं, प्रकृति यज्ञ कर्म में लगी हुई है यह तो बताया लेकिन मनुष्य क्या-क्या यज्ञ कर्म करे यह नहीं बताया, लेकिन अर्जुन की चेतना अभी इतनी प्रखर नहीं हुई है कि भगवान से पूछे। अत: भगवान इस अध्याय में स्वयं ही बताते हैं।

एक बात और है। श्रीकृष्ण कम से कम पिछले बारह वर्षों से करीब-करीब अर्जुन के साथ ही थे। श्रीकृष्ण परमात्मा के अवतार थे पर उन्होंने कभी अपने सत्य स्वरूप को प्रकट नहीं किया था। अर्जुन की नजरों में वे उसके ममेरे भाई थे, सखा थे और हितैषी थे। ज्यादा से ज्यादा वह यह समझता था कि वे सामान्य मनुष्य से कुछ अधिक विलक्षण प्रतिभाशाली हैं। उनके प्रति गुरु का भाव भी उसमें आ गया था पर भगवद् बुद्धि नहीं आई थी।

यदि हमें किसी अध्यापक से कोई लौकिक विद्या सीखनी है तो यह आवश्यक नहीं कि हमारा उसमें प्रेम या श्रद्धा हो ही। कभी-कभी हम जानते हैं कि फलां शिक्षक में कुछ चरित्रगत कमजोरियां हैं पर 'वह अपने विषय का अच्छा ज्ञाता है' अत: हम अपनी भावनाओं को किनारे कर उससे वह विषय सीखने चले जाते हैं। लेकिन नैतिकता, मानवीय मूल्य और उच्चतम जीवन की कला तो उसी से सीखी जा सकती है जिसके लिए हमारे मन में अपार श्रद्धा और प्रेम हो, जिसकी महानता को हम अच्छी तरह जानते हों। कोई महान व्यक्ति हमें कुछ कहे पर उस समय हमें पता न हो कि यह अपने क्षेत्र का विश्व प्रसिद्ध व्यक्ति है तब भी हम उसकी बात पर ध्यान नहीं देंगे। अत: गुरु की महत्ता को ठीक-ठीक जानना भी आवश्यक

है। भगवान ने अपने परमात्म स्वरूप को प्रकट करने के कई संकेत दिए भी हैं। उदाहरण के लिए तीसरे अध्याय में उन्होंने कहा कि अर्जुन देखो मेरा कोई कर्तव्य शेष नहीं है फिर भी मैं सतत् कर्म में लगा रहता हूं, मैं कर्म करना बंद कर दूं तो सारे लोक भ्रष्ट हो जाएं। उसके बाद उन्होंने कहा कि सारे कर्मों को मुझमें समर्पित करते हुए कर्म करो, लेकिन अर्जुन उनके संकेतों को पकड़ नहीं पाया। उसके मन में श्रीकृष्ण की वास्तविकता के प्रति कोई जिज्ञासा नहीं जागी तब भगवान ने सोचा कि अब इसे अपना रहस्य स्पष्ट ही बता देना चाहिए। अपनी भगवत्ता को उद्घाटित करते हुए ही वे चतुर्थ अध्याय का शुभारम्भ करते हैं।

श्री भगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१।।

मैंने यह योग सूर्य को बताया था। सूर्य ने (अपने पुत्र) मनु को यह बताया और मनु ने इक्ष्वाकु को यह कहा।

इस श्लोक द्वारा भगवान योग की भी और अपनी भी प्राचीनता प्रकट करते हैं। भगवान द्वारा वर्णित यह कर्म योग शब्द शायद अर्जुन को नई बात लगी हो पर वास्तव में यह वही सनातन ज्ञान है जो वेदों में अनादि काल से प्रवाहित हो रहा है। भगवान बताते हैं कि इस सनातन ज्ञान का प्रथम वक्ता भी मैं ही हूं।

हमारे शास्त्रों के अनुसार सृष्टि में सर्वप्रथम सूर्य की रचना हुई। सूर्य की रचना के बाद ही रात दिन अर्थात् काल की धारणा हो सकती है अत: सूर्य 'काल' से भी पुरातन अर्थात् सबसे प्राचीन है और भगवान का सूर्य को यह ज्ञान देना यह स्पष्ट करता है कि वे तब भी थे जब सूर्य भी नहीं था। सूर्य के पुत्र मनु माने गए हैं जो सृष्टि के प्रथम पुरुष हैं। उनके पुत्र इक्ष्वाकु हुए जिनके नाम पर इक्ष्वाकु वंश की स्थापना हुई जिसके वंशज राम थे।

इस प्रकार भगवान श्री कृष्ण बताना चाहते हैं कि अनादि पुरुष वे

स्वयं ही हैं और उन्हीं के द्वारा स्थापित यह ज्ञान परम्परा के रूप में आदि काल से प्रवाहित हो रहा है।

वेद का अर्थ महर्षि वेदव्यास द्वारा संकलित भोज पत्र पर लिखी पुस्तक कदापि नहीं समझना चाहिए। वेद शब्द विद् धातु से बना है जिसका अर्थ है जानना। अत: वेद का अर्थ है ज्ञान। हमें अपने दिव्य स्वरूप का ज्ञान कैसे हो, हम कैसे उस दिव्यता को प्राप्त कर सकें यह इन ग्रन्थों में बताया गया है अत: इन्हें हम वेद कहते हैं।

एक और ध्यान देने योग्य दिलचस्प बात है। कर्म योग की शिक्षा की शुरुआत सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु आदि से हुई। ये कोई वैरागी साधु महात्मा नहीं वरन् गृहस्थ थे। ये शासक थे। कर्मयोग गृहस्थों और शासक वर्ग की खास विद्या है। मनुष्य गृहस्थाश्रम में रह कर ही अपने कर्तव्य कर्म करता हुआ सुगमता पूर्वक परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है। भगवान यह बता रहे हैं कि कल्प के आदि में गृहस्थों ने ही 'कर्म योग' की इस विद्या को जाना और अर्जुन के माध्यम से हम सबको भी उपदेश दे रहे हैं कि सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिए दूसरी जगह जाने की जरूरत नहीं, हम जिस परिस्थिति में हैं उसी का सदुपयोग करते हुए अपनी वासनाओं को क्षीण करने और काम रूपी शत्रु को नष्ट करने का प्रयत्न करें। भगवान कहते हैं–

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।२।।

हे परंतप, इस प्रकार वंश परम्परा से चले आए इस योग को राजर्षिगण जानते थे। वह योग काल के प्रभाव से इस लोक में नष्ट हो गया।

भगवान कहते हैं कि उनके द्वारा कल्प के आदि में दिया गया यह ज्ञान परम्परा से राजर्षियों को ही प्राप्त था लेकिन काल का प्रभाव तो पड़ता ही है। इस लोक में इसे अच्छी तरह जानने वाले अब नहीं रहे।

भगवान ने कर्मयोग को राजर्षियों की परम्परागत विद्या बताया है। यहां ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों के मूलभूत अंतर को समझना आवश्यक है।

ब्रह्मर्षि वे हैं जो जन्म से ही वैरागी प्रवृत्ति वाले हैं और ब्रह्मानन्द में लीन रहते हुए संसार से दूर रह कर आत्मरत रहते हैं। राजर्षि वे हैं जिन्होंने जीवन को पूरी तरह भोगा और विषय भोगों की निरर्थकता का अनुभव कर उनका त्याग किया है। इस त्याग के लिए संसार को शारीरिक रूप से छोड़ा ही हो यह आवश्यक नहीं, कुछ तो संसार के बीच ही जीवन पर्यन्त रह कर अपनी साधना करते रहे और चारों और फैला हुआ संसार उनके चित्त को स्पर्श भी नहीं कर पाता था। कर्मयोग तो हमें इसी प्रवृत्ति के बीच ही निवृत्ति की राह दिखाता है अतः इसके ज्ञानी तो राजर्षि ही होंगे।

किन्तु काल का प्रभाव पड़ता ही है। कालान्तर में ब्रह्म विद्या कुछ ही मननशील उपासकों की जिज्ञासा का विषय बनकर रह गई और शासकों तथा संसार के बीच रहने वालों ज्ञानियों, बुद्धिजीवियों में इसका लोप हो गया अतः सर्व साधारण को इसकी बिलकुल भी जानकारी नहीं रही।

भगवान अर्जुन से जो कह रहे हैं वह कोई नई बात नहीं, उपनिषदों में कही हुई ही है। गीता को तो उपनिषद् रूपी गाय का दूध कहा गया है और कई श्लोक तो विभिन्न उपनिषदों से अक्षरशः उद्धृत किए गए हैं। ये उपनिषद वेदों के ही अंतिम खंड हैं। इसीलिए इन्हें वेदान्त कहा गया है। वेद के प्रारंभिक खण्डों (मंत्र तथा ब्राह्मण) में सांसारिक सिद्धियों की प्राप्ति के लिए उपाय बताए गए हैं तथा अंतिम खंडों (आरण्यक और उपनिषद्) में उपासना पद्धतियों और ब्रह्मविद्या का वर्णन है। उस काल की साधारण जनता और शासक वर्ग को भी केवल सांसारिक सिद्धियों में ही रुचि रह गई थी अतः वे यज्ञ याग आदि करते थे। वेदों के मंत्र और ब्राह्मण खंड ही प्रचलन में थे, उपासना और ब्रह्मविद्या तो कुछ मुट्ठी भर तपस्वियों की परम्परा बन गई थी। भगवान कर्म द्वारा परमात्मा की प्राप्ति की इस विद्या को पुनः प्रतिष्ठित करने का महान सामाजिक कृत्य करते हैं और इसके लिए उन्होंने अर्जुन को माध्यम बनाया है। भगवान कहते हैं:-

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

यह वही पुरातन योग है जो मैंने तुझे कहा है क्योंकि तू मेरा

भक्त और सखा है। यह (कर्मयोग) वास्तव में (धर्म का) गूढ़ रहस्य है।

कर्मयोग की यह विद्या पुरातन होने पर भी और उपनिषदों में दी हुई होने पर भी लुप्त हो गई थी क्योंकि राजा और क्षत्रियों ने काल के विभिन्न प्रभावों में आकर इसमें रुचि लेना बंद कर दिया और यह कुछ अध्ययनशील साधुओं, तपस्वियों, ब्राह्मणों की विरासत बनकर रह गई। ये लोग यज्ञ की जटिलताओं में अपने को खपा लेंगे, उससे मिलने वाले स्वर्ग-नर्क, लाभ-हानि की विवेचनाओं में लगे रहेंगे, लेकिन उसे दैनिक जीवन की क्रियाओं में उतारते नहीं। अतः धर्म, यज्ञ और योग को जीवन में उतारने की कला नए सिरे से भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को बता रहे हैं। पुस्तकों में समाई किसी विद्या को यदि कोई प्रयोगशील व्यक्ति जानता ही नहीं तो उसे रहस्य ही कहा जाएगा। रहस्य उस बात को कहते हैं जिसका अभी किसी को पता नहीं, एक बार जो बात बता दी गई वह रहस्य नहीं रह जाती। इसी अर्थ में भगवान् कहते हैं कि यह उत्तम रहस्य तुम्हें बता रहा हूं क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण की भांति अब तक किसी ने स्पष्ट बताया नहीं था कि कर्म किस प्रकार परमात्मा की प्राप्ति का साधन और परम सुख, शांति, आनन्द लेने वाला बन सकता है। इस रहस्य शब्द का सदुपयोग हिन्दू धर्म के 'कर्णधारों' ने बखूबी किया। गोपनीय विद्या की दुहाई देकर इस ज्ञान को पंडित वर्ग के लिए सुरक्षित कर दिया गया और एक बार पुनः जनसाधारण और क्षत्रिय वर्ग गीता के इन 'रहस्यों' से वंचित रह गया। भगवान तो जीवन में उतारने के लिए यह शिक्षा सबको देना चाहते थे। इस विद्या की योग्यता का पैमाना तो ब्राह्मण होना या क्षत्रिय भी होना उन्होंने कभी बताया ही नहीं था लेकिन हम अपनी इन धरोहरों के प्रति इतने उदासीन हो गए हैं कि इनमें वास्तव में क्या कहा गया है यह जानने में रुचि ही नहीं रखते।

इस 'रहस्य' को जानने का अधिकारी बनने के लिए जाति की तो नहीं लेकिन कुछ अन्य योग्यताएं जरूर आवश्यक हैं जिनका उल्लेख भगवान ने इस श्लोक में किया है। वे अर्जुन से कहते हैं कि तुम्हें मैं यह विद्या इसलिए बता रहा हूं क्योंकि तुम मेरे भक्त हो, मेरे सखा हो।

गीता में जिस अनमोल खजाने का गोपनीय नक्शा दिया हुआ है

उससे सचमुच लाभ उठाना है तो केवल नक्शे का अध्ययन या कोरा पठन पाठन करने से कुछ नहीं होगा। इस नक्शे को अच्छी तरह समझने के लिए तो भगवान का भक्त बनना होगा। उन्हें अपना मित्र, अपना सुहृद, अपना प्रभु, अपना गुरु, अपना आश्रय, सब कुछ बनाना होगा। भगवान से कोई एक नाता जोड़कर देखें, जीवन चमत्कारिक ढंग से कैसे बदलेगा यह तर्क से समझने की नहीं, अनुभव करने की बात है। वर्षों-वर्षों से रोज दो तीन घंटे पूजा पाठ आदि में बिताने वाले को भी जीवन में रंचमात्र की शांति नहीं मिलती क्योंकि उनके हाथ और वाणी आदि तो पूजा भजन का कार्य करती है पर उनकी वृत्तियां भगवान की ओर उन्मुख नहीं होती। भगवान उनके विचारों और चिन्तन का केन्द्र कभी नहीं बनते केवल पूजा की 'वस्तु' मात्र रहते हैं। जैसे हमारे सखा, हमारे प्रिय दूर भी रहे तो हमारे विचारों में बने रहते हैं वैसा ही रिश्ता, वैसा ही अनुराग भगवान से बने तो गीता के विभिन्न योग सहज ही जीवन में उतर जाएंगे।

अर्जुन भगवान का सखा और भक्त तो था पर साथ ही जिज्ञासु और बुद्धिजीवी भी था। वह श्रद्धावान हो सकता था, अन्धविश्वासी नहीं। भगवान में इतनी श्रद्धा होते हुए भी वह किसी बात को आंख मूंद कर नहीं मान पाता। उसके मन में एक शंका उठती है। वह भगवान से पूछ बैठा।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

अर्जुन ने कहा-आपका जन्म तो बहुत बाद का है जब कि सूर्य का जन्म तो बहुत पहले का है। तब मैं यह कैसे मान लूं कि (सृष्टि के) आरम्भ में आपने सूर्य को यह (योग) बताया।

जब हम किसी की अटपटी बात सुनते हैं तो उसकी प्रतिक्रिया दो प्रकार से हो सकती है। या तो हम उसे कोरी गप मानकर कोई व्यंग्यात्मक टिप्पणी करें या जिज्ञासा के साथ प्रति प्रश्न करके उसे समझने का प्रयत्न करें।

अर्जुन ने तो अभी तक श्रीकृष्ण को देवकी वसुदेव के पुत्र के रूप में ही जाना था जिसने मथुरा में कंस के कारागार में जन्म लिया और जो उससे उम्र में कुछ ही बड़े थे। श्रीकृष्ण ने जब यह कहा कि मैंने यह ज्ञान सूर्य को दिया तो अर्जुन की जिज्ञासु प्रवृत्ति ने उसे गप नहीं माना बल्कि उसकी उत्सुकता जागी कि वास्तविकता क्या है। अध्यात्म के क्षेत्र में एकतरफा ज्ञान दिया जाना हमारे देश की परम्परा भी नहीं है। यह तो आत्म विज्ञान है अतः शिष्य को उसमें पूरी तरह भाग लेना ही चाहिए। अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान अपने सत्य स्वरूप को प्रकट करते हैं जो हमारे दर्शन का अवतारवाद है।

श्री भगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।।५।।

श्री भगवान बोले - अर्जुन मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत गए हैं, उन सबको मैं तो जानता हूं पर हे परतंप, तू नहीं जानता।

प्रस्तुत श्लोक अवतारवाद ही नहीं, पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी प्रतिष्ठित करता है। जीव और शिव तत्वरूप से एक ही हैं फिर भी उनमें क्या अन्तर है यह भी इस श्लोक में बताया गया है। भगवान कहते हैं कि तुम्हारे और मेरे अनेकों जन्म हो चुके हैं। पहले अर्जुन अर्थात् जीव के अनेक जन्मों को समझें। किसी भी प्राणी का जन्म सृष्टि की कोई अकस्मात् घटना नहीं बल्कि योजनाबद्ध विकास है। हमारी वर्तमान स्थिति तक हमें पहुचाने वाली अनेकानेक घटनाएं, कर्म, इच्छाएं और योजनाएं हैं। आत्मा कोई भी शरीर धारण इसलिए करती है कि कुछ विशेष वासनाओं की पूर्ति हो जाए, उनका मल हट जाए और आत्मा अपने दिव्य स्वरूप परमात्मा के साथ एकाकार हो जाए। अलग-अलग वासनाओं की पूर्ति अच्छी तरह हो सके इसी के लिए विभिन्न योनियां बनाई है। जैसे सुअर की योनि में खाने की वासना की पूर्ति सबसे बढ़िया तरह हो सकती है। अजगर की योनि में दिनों दिन बिना काम काज किए पड़े रहने की इच्छा बहुत मजे

से पूरी की जा सकती है। कुछ ऐसी भी इच्छाएं, ऐसे भी लेन-देन होते हैं जो मनुष्य योनि में ही संभव है। मनुष्य योनि पशु योनि से जरा भिन्न है। एक तो यह कि पशुओं का तो प्रायः सभी का जीवन एक सा होता है लेकिन मनुष्य में देश, काल, परिस्थिति आदि अनेकानेक कारण से बहुत विभिन्नताओं की संभावनाएं हैं। हमारी वासनाओं की पूर्ति किस प्रकार के मनुष्य का जन्म लेने से हो सकती है उसी प्रकार का मनुष्य हमें बना दिया जाता है।

दूसरी विशेष बात मनुष्य योनि में यह है कि इसमें नए-नए कर्म करने की, अपनी स्वभावगत वासनाओं से लड़ने की भी एक सीमित स्वतंत्रता है। यह सीमित स्वतंत्र विचार शक्ति और क्रिया शक्ति हमें वासनाक्षय अर्थात् आत्मोद्धार तक जल्दी पहुंचा भी सकती है और इसका दुरुपयोग हो तो हम और अधिकाधिक वासनाएं एकत्र भी कर सकते हैं। बहुधा यही होता है कि जो योनि हमें वासनाक्षय के लिए मिली है उसका उपयोग हम वासना एकत्र करने के लिए कर लेते हैं। अतः बार-बार जन्म लेना पड़ता है।

जैसे अपनी लड़की के विवाह के लिए हम शापिंग लिस्ट बनाते हैं। अलग-अलग सामान के लिए हमें अलग-अलग दुकानों में जाना पड़ रहा है। हम खरीदारी करते जा रहे हैं, लिस्ट में निशान लगाते जा रहे हैं। लिस्ट पूरी हो जाए और हम जल्दी से अपने गांव, अपने घर वापस चले जाएं। हम कुछ बढ़िया चीजें खरीदने और जल्दी से लिस्ट पूरी कर देने के लिए एक बड़े डिपार्टमेंटल स्टोर में चले जाते हैं। लेकिन वहां और भी इतनी सुन्दर-सुन्दर वस्तुएं सजी हुई हैं कि लिस्ट पूरी होने के बदले और लम्बी हो जाती है। इतने में रात हो गई, दुकानें बंद करने का समय हो गया। अब हम उसी शहर में रुकेंगे, कल फिर विचार करेंगे कि जो सामान डिपार्टमेंटल स्टोर में देखा था वह किसी दूसरी दुकान में सस्ता मिल सकता है। और इस प्रकार लिस्ट पूरी होती ही नहीं। बुद्धिमानी तो इसी में है कि हम कुछ आवश्यक वस्तुओं की खरीदारी करें और बाकी लिस्ट को छोटी करने का प्रयास करें ताकि जल्दी घर लौट सकें। ये एक-एक दुकान, हमारे एक-एक जन्म है जिनमें हम विशेष-विशेष इच्छाओं की पूर्ति के लिए जाते हैं।

इसी प्रकार अर्जुन ने भी पृथापुत्र होने के पहले असंख्य जन्म धारण किए थे। सच तो यह है कि वह भी कह सकता था कि उसने सूर्य को

फलां बात बताई पर जीव और शिव, अर्जुन और कृष्ण में अन्तर यही है कि जीव एक शरीर धारण कर लेता है तो पिछले जन्मों की सारी बातें घटनाक्रम के रूप में उसकी स्मृति में बनी नहीं रहती। इस अविद्या के कारण वे केवल वासना के रूप में रहती हैं जबकि ईश्वर जब देह धारण करता है तो उसे सब याद रहता है। श्री कृष्ण को याद है कि वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अनादि, अनन्त, अविनाशी परमात्मा हैं और किसी कार्य विशेष के लिए उन्होंने देवकी पुत्र का शरीर धारण किया है। इसी अन्तर के कारण अर्जुन नर हैं, वे नारायण। अर्जुन मानव हैं, वे अवतार।

अगले तीन श्लोकों में वे अवतार तत्व की मीमांसा करते हैं।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।६।।

मैं अजन्मा, अव्यय और सब प्रणियों का ईश्वर होता हुआ भी अपनी प्रकृति का आश्रय ले निज माया के द्वारा जन्म ग्रहण करता हूं।

ईश्वर जीव की भांति अपनी वासनाओं, अपनी शापिंग लिस्ट से बंधा हुआ नहीं है, फिर भी वह देह धारण कर इस संसार में व्यवहार करने आता है। हम उसे अवतार कहते हैं और प्रस्तुत श्लोक में वेदव्यास जी ने बहुत थोड़े से शब्दों में बहुत सुन्दर ढंग से साधारण जीव और ईश्वर के अवतार का अन्तर स्पष्ट कर दिया है।

हम तो संसार में आए हैं अविद्या के कारण। हम अपनी-अपनी वासनाओं के अनुसार कर्म करते हैं और अपना-अपना एक संसार बना लेते हैं जिसमें हमारी वस्तुएं, हमारे रिश्ते नाते, हमारे दोस्त-दुश्मन, हमारी भावनाएं, हमारी योजनाएं, हमारे आदर्श होते हैं। यह व्यष्टि जगत है। भगवान समष्टि रूप हैं। वे सभी वस्तुओं, सभी भावनाओं, सभी योजनाओं के सम्मिलित स्वरूप हैं और इन सबके नायक हैं। हमारे लिए यह हमारा अज्ञान है और हम इनके वश में हैं, भगवान के लिए यह उनकी माया है और वे उसके स्वामी हैं।

जैसे हम इन्द्रजाल जादू देखने हाल में गए। जादूगर आता है और उसके जादू अर्थात् माया के कारण हाल की कुर्सियों आदि के स्थान पर हमें नदी, नाले, पेड़, पौधे नजर आने लगते हैं, हम उनमें खो जाते हैं। जादूगर भी इन पेड़े पौधे नदी नालों को देख रहा है पर वह जानता है कि ये उसी की माया है, वह इनका स्वामी है, वह हमारी तरह मोहित नहीं होता। वह इन्द्रजाल में फंसने वाला नहीं, इन्द्रजाल पैदा करने वाला है। वह जब चाहे इस माया को समेट सकता है। हम भ्रमित हैं, वह नहीं है। हम अल्पज्ञ हैं, वह सर्वज्ञ है।

जैसे नाटक मंडली में एक अभिनेता राजा का अभिनय करता है। वह रोज आता है, अपना कुर्ता धोती खोलकर राजा के वस्त्र धारण करता है, अभिनय करता है मंच पर लोग उसके सामने घिघियाते हैं, वह अत्यन्त रोबीले स्वर में बात करता है और नाटक खत्म होने पर अपने राजसी वस्त्र उतार, उस दिन का मेहनताना लेकर चुपचाप साइकिल पर बैठ अपने घर चल देता है। उसके जीवंत अभिनय के लिए लोग उसे भले राजा समझ लें, वह कैसे एक क्षण के लिए भी भूल सकता है कि वह राजा नहीं तीन छोटे-छोटे बच्चों का पिता है? इसी प्रकार इस जगत में सामान्य जन की तरह व्यवहार करने वाला ईश्वर एक क्षण के लिए भी अपने सत्य स्वरूप को नहीं भूलता। जैसे जेल में कैदी और जेलर दोनों हैं। लेकिन कैदी कर्मों की सजा भोगने के लिए बाध्य होकर वहां रहता है। इसके विपरीत जेलर वहां का स्वामी है। वह बंधा हुआ नहीं है। वह अपनी इच्छा के अनुसार जब चाहे आ जा सकता है। अपनी इस स्वतंत्रता के साथ कभी-कभी कुछ विशेष उद्देश्यों से वह जेल की कोठरियों में जाता है।

ईश्वर कब कब अवतार लेता है यह बताते हुए भगवान कहते हैं-

यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

हे अर्जुन, जब जब धर्म का क्षय होता है और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब मैं अपने को प्रकट करता हूं।

जीव का जन्म तो उसकी वासना, उसके प्रारब्ध, उसकी कामनाओं के कारण होता है लेकिन परमात्मा पूर्ण काम है। उसका अवतार किसी वासना से नहीं होता वह तो अपना सृजन स्वयं करता है। इस अवतार का कारण ईश्वर की अपनी इच्छा नहीं, बल्कि समष्टि का प्रारब्ध होता है।

बगीचे में फूलों की क्यारियों के बीच यूं तो जंगली घास-फूस उगते ही रहते हैं पर जब ये बहुत अधिक बढ़ने लगते हैं और फूल के पौधों को ही हानि होने लगती है तब माली इन सबको उखाड़ फेंकने के लिए खुरपी लेकर बगीचे में उतर पड़ता है। संसार में भी यूं तो धर्म-अधर्म रहते ही हैं पर जब अधर्म की वृद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि धर्म को दबा दिया जाता है, जब मानव-मानव की भांति नहीं राक्षस की भांति व्यवहार करने लगता है और सज्जनों को सताया जाने लगता है तब भगवान अवतार लेते हैं।

ऐसा एक बार नहीं बार-बार होता है। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि भगवान जन्म केवल धर्म के क्षय पर नहीं लेते, वरन् तब लेते हैं जब अधर्म धर्म को दबाने लगता है। जब हिरण्यकश्यप और हिरण्याक्ष पैदा होते हैं। हिरण्याक्ष का अर्थ है जिसकी आंखें हिरण्य अर्थात् स्वर्ण पर टिकी रहती है। हिरण्यकश्यप का अर्थ है जो स्वर्ण में लिपटा रहता है। और जब प्रह्लाद अर्थात् सज्जनों को भगवान का नाम लेने के कारण यातना भोगनी पड़ती है, जब समाज को हिरण्याय नमः अर्थात् धन की ही जय-जयकार करने के लिए प्रेरित किया जाता है तब भगवान को अवतार लेना पड़ता है।

एक विशेष बात इस श्लोक में और कही गई है- 'मैं अपना सृजन करता हूं।' अवतार साधारण जीवों की भांति गर्भ से जन्म नहीं लेते। उनकी माया के कारण प्रतीत ऐसा हो सकता है, लेकिन वास्तव में वे प्रकट होते हैं। इसलिए तुलसीदासजी ने लिखा है- 'भए प्रकट कृपाला,' भगवान की अपनी वासना तो कुछ थी नहीं, मनु शतरूपा के पूर्व कर्मों के फलस्वरूप उनके पुत्र बनकर प्रकट हो गए और फिर चुपचाप पड़े रहे। जब माता ने अपनी अगली इच्छा प्रकट की कि आप शिशु लीला कीजिए तब 'सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना।' यह ठानकर रोना बतलाता है कि भगवान अवतार के रूप में जो कुछ करते हैं जान-बूझकर, अपनी प्रकृति के स्वामी होकर

करते हैं। अतः उनके कर्म लीला अर्थात् नाटक कहे जाते हैं। नाटक में अभिनेता जो कुछ करता है वह दर्शक वर्ग की मांग के अनुसार पूर्व नियोजित रहता है और अभिनेता को पता रहता है कि वह वास्तव में भिखारी नहीं, भिखारी का रोल उसने अपनी इच्छा से स्वीकार किया है।

इस श्लोक में 'भारत' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ कुछ लोग लगा लेते हैं कि मैं भारत में प्रकट होता हूं। पर भगवान का अवतार इतनी संकीर्णता से बंधा हुआ नहीं, भारत शब्द का प्रयोग तो भरतवंशी अर्जुन को संबोधित करने के लिए गीता में भगवान बहुत स्थान पर करते हैं।

अधर्म द्वारा धर्म को दबाए जाने की कोशिश होने पर अवतार ग्रहण कर भगवान क्या करते हैं यह बताते हुए कहते हैं-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।८।।

साधुओं की रक्षा के लिए, पापकर्मियों के विनाश लिए (इस प्रकार) धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में अवतीर्ण होता हूं।

केवल धर्म की ग्लानि या केवल अधर्म की वृद्धि ईश्वर के अवतार का कारण नहीं बनती। जब दोनों बातें एक साथ मिलती है और अधर्म धर्म को दबाने लगता है, दुर्जन सज्जन को सताने लगते हैं तब साधुओं की रक्षा और दुष्टों के विनाश के लिए भगवान अवतार ग्रहण करते हैं। उनका उद्देश्य प्राणी का विनाश नहीं होता, वे तो यथासंभव दुष्टता का ही विनाश करना चाहते हैं पर कभी-कभी संहार भी आवश्यक हो जाता है। श्रीकृष्ण के काल में भीष्म, द्रोण आदि धर्म की ग्लानि के उदाहरण हैं, दुर्योधन, शकुनि आदि अधर्म की वृद्धि के। भगवान का उद्देश्य धर्म की स्थापना और अधर्म का विनाश था लेकिन औचित्य की बात न भीष्म-द्रोण आदि को समझ में आई न दुर्योधन को, और महाभारत का नर संहार उनकी नियति बन गया।

यह तो हुई इस विशाल संसार में भगवान के अवतार ग्रहण करने की बात। आइये, हम तो यह देखें कि इन श्लोकों का आध्यात्मिक अर्थ क्या है, इसमें हमारे लिए व्यक्तिगत रूप से भगवान ने क्या कहा है-

हमारा भी तो अपना एक निजी संसार है जिसमें अच्छाई-बुराई का संघर्ष भीतर-बाहर चलता रहता है। यदि हम अच्छाई के मार्ग पर चलना चाहते हैं तो कभी तो बाहर के ही मारीच, सुबाहु इसमें विघ्न डालते हैं, कभी हमारे ही मन में बैठा रावण सीता रूपी शांति को चुरा लेता है। लेकिन वास्तव में यदि सज्जनता का मार्ग अपनाना चाहते हैं, सच्चे मन से यदि हम साधना के पथ पर चलना चाहते हैं तो हमारे लिए भगवान का यह आश्वासन है- डरो नहीं! तुमने जैसे ही साधना के पथ पर कदम रखा, तुम सीधे मेरी देख-रेख में आ गए हो। ये आसुरी शक्तियां जब-जब हावी होने लगेंगी तब-तब मैं तुम्हारे इस संसार में आऊंगा और अन्दर बाहर की दुष्प्रवृत्तियों का नाश करूंगा।

साधना का पथ छोड़ें नहीं। कभी ऐसा प्रतीत होने लगे कि अपना मन कमजोरियों का शिकार हो रहा है तो प्रभु के चरणों को और कस कर पकड़ें। उनके इस आश्वासन पर पूरी श्रद्धा रखते हुए उनसे प्रार्थना करें कि वे ही मझधार में फंसी हमारी नैया को पार लगायें। अपने मन की दुर्बलताओं और दुष्प्रवृत्तियों को भी अच्छी तरह पहचान कर भगवान के सामने खड़ा कर दें- 'हे भगवान, ये मेरे शत्रु हैं जिनके सामने मैं नितांत निर्बल और असहाय हो जाता हूं। इन्हें शेष करने का कार्य तुम्हें ही करना होगा।' प्रेम, विश्वास और श्रद्धाभरी तो कोई भी पुकार भगवान अनसुनी करते नहीं और यह तो उनकी अपनी स्वीकार की गई जिम्मेदारी है। बस भगवान को हृदय में धारण करें, दिल में स्थान दें, चित्त के शुद्धिकरण का कार्य वे स्वयं करेंगे। हमें न बाहरी ताकतों से भय खाने की जरूरत है न अन्दर के राक्षसों से परेशान होने की आवश्यकता। भगवान अगले श्लोक में परोक्ष रूप से इसी आश्वासन पर बल देते हुए कहते हैं-

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

हे अर्जुन जो इस प्रकार मेरे जन्म और और कर्म की दिव्यता को तत्व रूप से जानता है वह देह त्यागने के पश्चात् फिर जन्म न लेकर मुझसे आ मिलता है।

भगवान ने अभी-अभी अपने जन्म और कर्म के विषय में जो बताया उसे तत्व से जानने की आवश्यकता है। भगवान ने कंस को, रावण को, हिरण्यकश्यप को मारने के लिए अवतार लिया यह कथा जानने मात्र से हमारी मुक्ति संभव नहीं, हमें तो इन कथाओं का यथार्थ, इनका तत्व अच्छी तरह समझना होगा। जैसे ट्रिगर दबाने से बंदूक चलती है यह बात तो कथा की तरह है जिसे सब जानते हैं। लेकिन इस ज्ञान के साथ हम बंदूक लेकर जंगल में निकल पड़ें और शेर आ जाए तो यह ज्ञान हमें शेर से मुक्ति कदापि नहीं दिला सकेगा। उसकी दहाड़ मात्र से हमारे हाथ कांपने लगेंगे और बंदूक छूट कर गिर जायेगी। शेर से मुक्ति पानी है तो बंदूक चलाने का ज्ञान तत्व रूप से जानना होगा। अवतार की बातों को भी तत्व रूप से समझने की जरूरत है कि भगवान तभी आते हैं जब पाप पुण्य को दबोचने लगता है और दुर्जनता सज्जनता पर हावी होने लगती है, उनका कार्य दुर्जनता का विनाश और पाप का मोचन है, पाप को आश्रय देना नहीं। हम दुराचार, अनाचार, अत्याचार और व्यभिचार करके फंस जाएं और पुकारें 'हे भगवान, मेरी रक्षा करो, मेरी सहायता करो', तो भगवान का पहला प्रहार तो इन्हीं राक्षसों पर होगा। हमें इनसे मुक्ति दिलाने के लिए वे तो यही प्रयत्न करेंगे कि हमें कष्ट मिले ताकि हम इनसे तौबा करें।

हम इतने स्मार्ट हो गए हैं कि कष्ट भोगते रहते हैं पर तौबा नहीं करते। लेकिन भगवान हमसे अधिक स्मार्ट हैं। नारद जी ने हरि (विष्णु) का रूप मांगा था, भगवान ने माया जाल से उनकी रक्षा के लिए हरि (बंदर) का रूप दिया। हम भी भगवान से 'एड' (सहायता) मांगते हैं और भगवान हमें 'एड' (जान लेवा बीमारी) भेजते हैं। भगवान की पालिसी तो कष्ट को नहीं, दुष्टता को खत्म करने को होती है। उन्होंने तो अंगद को रावण के पास दूत बना कर भेजा तो यही कहा था कि 'काजु हमार तासु हित कोई, रिपु सन करेहु बतकही सोई' अर्थात् हमारा भी काम बन जाये और उसका

भी कल्याण हो। लेकिन दुष्ट जब दुष्टता छोड़ने के लिए किसी भी तरह तैयार नहीं होता तो उसका संहार करना ही पड़ता है।

भगवान के जन्म और कर्म के इस दिव्य रहस्य को समझें। हमें उन्हें बुलाना है तो इन्कम टैक्स की रेड से बचने के लिए नहीं, मोटर गाड़ी या बंगला पाने के लिए नहीं, वरन् अपनी दुष्प्रवृतियों का समूल नाश करने, अपने काम-रूप शत्रु का वध करने के लिए पुकारें, और विश्वास रखें, वह जरूर आयेगा। उसने वचन दे रखा है। पहली जरूरत केवल इस बात की है कि हम अपने चित्त के इन राक्षसों को राक्षस मानें और महसूस करें कि ये हमारी अच्छाइयों पर काली घिनौनी छाया डाले हुए हैं। बस हम फिर असहाय नहीं रहेंगे। यह देवकीनन्दन तो कारागार में भी जन्म ले सकता है। यह नन्दनन्दन तो गोबर मिट्टी कीचड़ के बीच भी मुरली बजाते-बजाते राक्षसों का संहार कर सकता है। यही उनके जन्म और कर्म की दिव्यता है।

होता यह है कि हम अपनी बुरी आदतों और दुष्प्रवृतियों को तो ऐसा ढंके रखना चाहते हैं कि उन्हें स्वयं भी देखने की हिम्मत नहीं करते और दूसरे लोगों में हमें कोई कंस नजर आता है, कोई रावण दिखाई पड़ता है, कोई हिरण्यकश्यप जान पड़ता है और हम चाहते हैं भगवान कंस को मार डाले, रावण का वध कर डालें और हिरण्यकश्यप का कलेजा चीर डालें। न भगवान आते हैं न यह सब होता है। यह तो समष्टि की समस्या है, समष्टि की पुकार होगी, सभी साधुजन त्राहि-त्राहि करेंगे तभी वे आयेंगे। हम तो पहले अपना संसार देखें, अपने खास-खास शत्रुओं को मारने के लिए पुकारें और फिर देखें क्या होता है।

भगवान कहते हैं इस तत्व को जानने वाला फिर पुनर्जन्म के चक्कर में नहीं पड़ता। पुनर्जन्म का यह चक्कर है हमारा कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव। इन्हीं दो मूर्खताओं के साथ हम ससांर की वस्तुओं, भावनाओं और विचारों के भवंर में चक्कर खाते रहते हैं। जो व्यक्ति अपनी सभी क्रियाओं के पीछे कार्य करती भगवान की दिव्य शक्ति को तत्व रूप से जान लेता है उसका कर्तापन का अहंकार छूट जाता है और जब कर्ता ही नहीं तो भोक्ता कैसा? इस प्रकार कर्ता का अहंकार और भोक्ता की कामनाएं

स्वयमेव पीछे छूट जाती हैं वह उन्मुक्त होकर जी पाता है।

भगवान कहते हैं कि मैं जो यह मुक्ति की बात कर रहा हूं यह कोई असंभव बात नहीं, अनेकों ने मेरे इस भाव को पाया है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।१०।।

जो आसक्ति, भय और क्रोध से छूटे हुए हैं, जिन्होंने अपना मन मुझमें लगा रखा है, जो मेरा ही आश्रय करके रहते हैं जिन्होंने ज्ञानाग्नि की आंच में तपा कर अपने को पवित्र बना लिया है, ऐसे बहुत से लोग मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं अर्थात् मेरे स्वरूप में आकर मिल गए हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं-अर्जुन! एक दो नहीं 'बहवः' बहुत से लोग मुझे प्राप्त हो चुके हैं, कहां तक नाम गिनाऊं। ये लोग कैसे-कैसे हैं-इन्होंने राग द्वेष को त्याग दिया है (जिससे भय और क्रोध से अपने आप मुक्ति मिल जाती है) इन्होंने अपना चित्त मुझमें लगा रखा है, ये मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं और ज्ञानाग्नि में तपने के कारण इनकी वासनाएं भस्म हो गई हैं।

भगवान को पाने के तीन मार्ग हैं, ज्ञान, भक्ति और कर्म। ज्ञान का विस्तार तो द्वितीय अध्याय में भगवान ने किया ही था, कर्मयोग के विषय में अब तक बताते ही आ रहे हैं, भक्ति के भी दो बिन्दुओं को उन्होंने इस श्लोक में छू भर दिया है। विस्तार तो बाद में करते ही रहेंगे।

कर्मयोग की बात है- वीत राग भय क्रोध। पहले भी विस्तार से कहा जा चुका है कि राग, भय, क्रोध एक ही है। राग के कारण ही प्रिय के लिए भय होता है और उसी के कारण क्रोध आता है। राग कामना से सीधे जुड़ा हुआ है। जिसकी हमें कामना रहती है उसी में प्रेम होता है और निष्काम कर्म करने वाला कर्मयोगी तो कामना को त्याग चुका है अतः राग, भय, क्रोध से मुक्त है ही फिर उसके और परमात्मा के बीच पर्दा रहा कहां?

ज्ञानाग्नि में तपने का अर्थ है -अपनी समस्त वासनाओं को दग्ध कर देना, और सृष्टि के चरम चैतन्य तत्व को पहचानना। परमात्मा को पाना

थोड़े ही है, वह तो है ही। ज्ञान के द्वारा केवल उसके आवरण को हटाना है। तीसरी बात भक्ति योग की जो इस श्लोक में दो शब्दों द्वारा कही गई वे हैं- मन्मया और मामुपाश्रिता। ये नई है अतः इनसे भी परिचित हो लें।

संसार से असंगता, कर्म करते हुए भी जीवन्मुक्ति तथा इस परिवर्तनशील अनित्य जगत में नित्य सुख और अखंड आनंद की प्राप्ति संभव है यदि हम मन को प्रभु मय कर लें (मन्मया) और उसका ही आश्रय ग्रहण करें (मामुपाश्रिता) यह भक्ति का मार्ग है।

हमारा मन हर वक्त कुछ न कुछ सोचता विचारता रहता है। उसके विचार अधिकतर उन वस्तुओं व्यक्तियों की ओर बहते हैं जिनसे उन्हें प्रेम रहता है। अपने प्रिय का चिंतन करने के लिए हमें सांसारिक कार्यों को छोड़कर अलग कमरे में बैठने की आवश्यकता नहीं होती। यह चिंतन तो निरंतर चलता रहता है। किसी काम में शरीर, मन, बुद्धि तीनों लगे हैं तब तक लगे हैं, मन जहां जरा खाली हुआ, अपने प्रिय की यादों, उसके विचारों में खो जाता है। स्त्रियों को तो विशेषकर जो घरेलू कार्य करने होते हैं उनका उन्हें इतना अभ्यास हो जाता है कि शरीर से काम होता रहता है, बुद्धि चिंतन के लिए स्वंतत्र होती है और मन कही अनकही भूत-भविष्य में की बातों में घूमता रहता है। विचारों के केन्द्र बिन्दु अपने परिवार के ही लोग, उन्हीं की बातें होती हैं और हम व्यर्थ ही कभी सुखी कभी दुखी होते रहते हैं। जो बात घटी नहीं, शायद घटेगी भी नहीं वह भी विचारों के द्वारा हमें सुख-दुःख दे जाती है।

यदि विचारों का यह प्रवाह प्रभु के लिए हो जाए जो परम आनन्द स्वरूप है तो फिर काम करते-करते भी चौबीस घंटे की समाधि है। और फिर भगवान श्रीकृष्ण की तो लीलाएं ही इतनी मनोहारी है कि मन को सहज ही लुभा लेती है, बस जरा सा प्रयत्न करने की आवश्यकता है, हम एक कदम उनकी ओर बढ़ाते हैं तो वे दस कदम हमारी ओर बढ़ाते हैं, और साथ ही हमारे और उनके कदमों के नाप का अंतर भी समझ लें- चींटी एक कदम हाथी की ओर चले और हाथी दस कदम चींटी की ओर, तो बताइये कि हाथी से मिलने में चींटी ने कितनी मेहनत की? बस इतनी ही मेहनत करने की जरूरत है। जैसे पूजा करते वक्त हमारा ध्यान पति में, पुत्र

में, रसोई आदि गृहकार्यों की ओर दौड़ता है उसी प्रकार गृहकार्य करते समय मन की वृत्तियां श्यामसुन्दर की ओर दौड़ें तो वही गोपी भाव है, वही भगवन्मयता है। गोपियां दही बिलोती थी, माखन बेचती थी, घर के सभी काम करती थी लेकिन प्राण मनमोहन में लटके रहते थे और हम सब यह कथा जानते हैं कि उन्हें भगवान ने कितना ऊंचा स्थान दिया। परम ज्ञानी उद्धव और महर्षि नारद तक इन अनपढ़ गोपियों के सामने नतमस्तक हो गये।

एक स्त्री ने राजा की बहुत सेवा की, उसे अपने प्यार से प्रसन्न कर लिया। राजा उसके प्रेम में बिल्कुल डूब गया और एक दिन उससे कुछ मांगने को कहा। उसने कहा, 'राजन्, आपके कारागार में मेरा प्रेमी बन्दी है, उसे छुड़वा दीजिए।'

परम संत स्वामी अखंडानन्द जी कहा करते थे कि संसार में रहना है तो कुलटा स्त्री की तरह, जो सेवा पति की करती है और दिल अपने प्रेमी में लगाए रखती है। और भगवान के साथ व्यवहार करना है तो पतिव्रता स्त्री की तरह करें जो सेवा भी पति की ही करती है अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी उसी पर आश्रित रहती है। यह दूसरे शब्द मामुपाश्रिता का अर्थ है।

कुछ लोग निष्काम पूजा करने की बात करते रहते हैं। मन में कामनाएं भरी हों और पूजा निष्काम करें, यह कैसी बात? निष्काम पूजा तो आत्मतृप्त, आत्माराम महात्मा कर सकते हैं। हमें तो प्रभु का आश्रय चाहिए। हम अपनी कामनाओं के लिए कभी किसी की खुशामद करें, कभी किसी की भेंट पूजा करें कभी किसी के सामने गिड़गिड़ाएं और सर्वसमर्थ प्रभु की उपासना करने बैठें तो निष्कामता का लबादा ओढ लें! यह आत्मप्रवंचना है। इससे छुटकारा पाना चाहिए। उस औरत को हम क्या कहेंगे जो पति से प्रेम करती है, उसकी सेवा करती है और अपनी जरूरतों के लिए पड़ोसियों के सामने हाथ फैलाती है? हमें मांगना हो तो उससे, गिड़गिड़ाना हो तो उसके सामने, रोना है तो उसके सामने, शिकायत करनी है उसके ही सामने और कभी कुछ नहीं बस प्यार करने को जी चाहे तो वह भी उससे ही करें। तात्पर्य यह है कि संसार में शरीर से यथावत् कार्य करते हुए भी वृत्तियां उसी की ओर लगाए रखें।

यहां यह शंका उठ सकती है कि इससे तो संसार से उदासीनता आ जाएगी। भगवान से ही प्यार करेंगे तो संसार में हम उचित व्यवहार कैसे कर पाएंगे? जो हमारे आश्रित हैं, जिन्हें लाड़-प्यार, दुलार देना हमारा धर्म, हमारा कर्त्तव्य है उनके प्रति न्याय कैसे कर पायेंगे? लेकिन ऐसी बात नहीं। जैसे अपने प्यारे बच्चे की कोई प्यारी चीज है तो वह हमें भी सहज ही प्यारी लगने लगती है। हम उसे बहुत सहेज कर रखते हैं क्योंकि वह अपने बच्चे को याद दिलाती है। उसी प्रकार हमारा संसार, हमारा परिवार, हमारा व्यवसाय सब उस ठाकुर जी का है जो हमें अत्यधिक प्रिय हैं। अतः ये सब भी हमें बहुत प्यारे लगते हैं, इन्हें तो बहुत अच्छी तरह सहेजना है। ऐसा भाव जिसके आ जाए उन्हें और किसी साधना की आवश्यकता कहां? भगवान कहते हैं- 'वे मेरे भाव को यानि परमानन्द को प्राप्त होते हैं।'

भगवान की बातों से शायद अर्जुन को लगे कि भगवान ने ही सबको बनाया है तो फिर किसी को परम आनन्द किसी को परम दुःख, किसी को धन किसी को निर्धनता, ऐसा बंटवारा क्यों? क्या भगवान भेदभाव और पक्षपातपूर्ण व्यवहार करते हैं? श्रीकृष्ण उसके भावों को ताड़ कर स्पष्टीकरण कर देते हैं-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

जो लोग जैसा भाव लेकर मेरे पास आते हैं मैं (उनके उस भाव की रक्षा करता हुआ) उन्हें उसी प्रकार फल देता हूं। हे पार्थ, मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।

भगवान तो जीवन तत्व के रूप में सभी जीवों में प्रतिष्ठित होकर उन्हें कर्म करने और सोचने-विचारने की शक्ति देते हैं। उन्होंने मनुष्य को यह स्वतंत्रता दे रखी है कि वह जैसे चाहे उनको भजे अर्थात् अपने जीवन का उपयोग करें। भगवान किसी से शिकायत नहीं करते। हम जैसे चाहते हैं उनकी दी शक्तियों का उपयोग करते हैं। यही उनको विभिन्न प्रकार से भजना है और फिर जैसे भजते हैं वैसे ही फल प्राप्त होते हैं। वे फल यदि

दुखदायी लगते हैं तो हम शिकायत करते हैं कि भगवान ने दु:ख दिया। भगवान का इसमें क्या दोष?

जैसे बिजली कहे- जो मुझे जिस भाव से भजता है उसे मैं वैसा ही फल देती हूं। अब हम प्लग लगाएंगे हीटर का तो कमरा गर्म होगा ही। संगीत कैसे सुनेगा? उसके लिए तो रेडियो का ही प्लग लगाना होगा। भगवान की जीवनदायिनी शक्ति का प्लग भी हम भिन्न-भिन्न इच्छाओं के साथ लगा सकते हैं। हम चाहें तो इसका प्रयोग मोक्ष के लिए करें, हम चाहें तो परमार्थ के लिए करें, हम चाहें तो दस बच्चे पैदा करके गृहस्थी की हाय-हाय के लिए करें, हम चाहें तो कला साधना के लिए करें। भगवान तो कल्पवृक्ष के समान हैं, वे सभी कामनाओं की पूर्ति करने में समर्थ हैं पर सवाल तो यह है कि हम चाहते क्या हैं?

कल्पवृक्ष के नीचे बैठा व्यक्ति यदि मनोवांछित सारे सुख भोग रहा हो और अपनी निराशावादी आदत के कारण हठात् सोच बैठे- 'अभी यहां शेर आ जाए तो?' तो शेर आएगा ही। वह सोचे- 'शेर मुझे खा जाए तो?' तो शेर उसे खाएगा ही। इसमें कल्पवृक्ष का क्या दोष। दोष तो हमारी कामनाओं, हमारे संस्कारों, हमारी विचार पद्धति का है। चाट चटखारना चाहेंगे तो सी-सी तो करना ही पड़ेगा।

संसार में भगवान को पाना चाहते हैं कितने लोग? उसके विचार को हम अपने बुढापे या उस काल के लिए स्थगित करके रखना चाहते हैं जो कभी नहीं आता। प्रौढ़ता को प्राप्त हो रहे स्त्री-पुरुष भी बूढ़ा कहलाने से बिदकते हैं। वे कहेंगे-अभी तो हमारी उम्र ही क्या हुई है। सारी जिन्दगी खेलने खाने की ही उम्र बनी रहेगी तो खेलने की थकान, खाने का अजीर्ण और पीने की खुमारी तो भोगनी ही होगी। फिर हम भगवान को दोष दें तो भगवान क्या कहेंगे।

भगवान कहते हैं कि मेरे पास तो जो जैसा भाव लेकर आता है उसे मैं वैसा ही भाव देता हूं। संसार चाहने वाले को संसार मिलता है मुझे चाहने वाले को मेरा भाव मिलता है और साथ ही यह भी बताते हैं कि हम उन्हें किसी रूप में भी क्यों न भजें, सारे स्वरूप, सारे मार्ग, अन्ततोगत्वा एक हीहैं।

हमारी भलाई इसी में है कि हम समय रहते चेत जाएं। वास्तव में चाहते तो हम सभी परम सुख ही हैं पर यह सुख कैसे मिल सकता है उसका ज्ञान नहीं होता। अज्ञानता के कारण हम निर्णय लेने में भूल कर बैठते हैं और भूल का अहसास होने पर भी संभलते नहीं इसीलिए दुखों की श्रृंखला समाप्त होती ही नहीं।

एक व्यक्ति अकेला रहता था। उसका एक नौकर था जो खाना बना दिया करता था। एक दिन वह शाम को क्लब जा रहा था कि नौकर ने पूछा, 'आज रात खाने में क्या बनाना है।' उसी समय उस व्यक्ति को दो-तीन खट्टी डकारें आईं और उसे लगा कि उसका पेट ठीक नहीं। उसने नौकर को पतली-पतली खिचड़ी बनाने का निर्देश दे दिया। क्लब में टेनिस खेलने, तैरने आदि से उसका दोपहर का भोजन पच गया और तेज भूख के साथ जब घर लौटा तो पतली खिचड़ी देखते ही आग बबूला हो गया। गुस्से में हाथ मारा तो खिचड़ी का कटोरा भी उलट गया। यदि वह ठंडे दिमाग के साथ समझता कि खिचड़ी का निर्देश उसी ने दोपहर को दिया था और अपने गलत निर्णय पर हंसते हुए उसे स्वीकार कर खाना शुरू करता तो और भी बहुत कुछ फ्रिज से निकालकर या बनाकर परोसा जा सकता था और उसे भूखे नहीं सोना पड़ता। हम अब यदि समझ जाएं कि जो तनाव, अशांति कुण्ठा हम भोग रहे हैं वे भूलवश ही सही हमारे ही 'आर्डर' किए हुए हैं, हमने ही 'आनन्द' के स्थान पर 'मजा' का आर्डर दिया था, और अब इनमें यथासंभव सुधार करने का प्रयास करें तो बहुत कुछ बिगड़ी बन सकती है।

पर अज्ञानवश दुःख भोगने की बात की कौन सोचे यहां तो जान-बूझकर भी सही रास्ता पकड़ना ही नही चाहते क्योंकि उसके लिए तो धीरज चाहिए। हमें तो चट काम पट लाभ चाहिए। भगवान कहते हैं:-

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।१२।।

इस लोक में कर्मों की सिद्धि चाहने वाले देवताओं का यजन करते हैं क्योंकि मनुष्य लोक में कर्मजनित सिद्धि शीघ्र होती है।

हम किसी रास्ते पर गाड़ी चला रहे हैं। एक जगह दाएं मुड़ना है। यदि दायीं सड़क पर जाना हो तो कुछ आगे के गोलचक्कर से गाड़ी घुमाकर लाना होगा। हमें इतना धैर्य कहां? हम तो वहीं से घुमाएंगे। पुलिस ने पकड़ा तो दस रुपये थमा देंगे बस। रोड पर चलना हो- पुलिस की पूजा कर लो। ट्रेन में चलना हो- टी टी आई को भेंट चढ़ा दो। अदातल में मुकदमा चले तो जज को पत्र पुष्प चढ़ा दो, चटपट काम बन जाता है। इतने नियम कानून में बंधकर कौन अपनी जिन्दगी खराब करे? यह हमारा आज का जीवन दर्शन है। आनन्द पाने के लिए तो इतने निष्काम कर्म करने पड़ेंगे कि कर्म से ऊपर उठ जायें अर्थात् कर्तापन तक का भाव लुप्त हो जाए। इतनी मेहनत करने से मिलनेवाला 'आनन्द' हमें चाहिए ही नहीं। हम तो खाने के, पीने के, नाचने के, गाने के, रोने के, पीटने के, 'मजे' में ही मस्त हैं। जो थोडे ही देर के लिए सही पर तुरंत मिल जाए।

भगवान कहते हैं कि मनुष्य को अद्‌भुत कर्म क्षमता दी गई है। इसका वह जैसा चाहे उपयोग कर सकता है। मनुष्य लोक में कर्म जनित सिद्धियां बहुत सरलता से मिल जाती है इसलिए मनुष्य सच्चिदानन्द के लिए साधना न कर सिद्धियां देने वाले इन देवताओं की ही भेंट पूजा कर उन्हें प्रसन्न कर अपना 'काम निकालना' चाहता है।

देवताओं का अर्थ फलदायिनी शक्तियां है। इनकी शक्तियां परमात्मा की शक्ति है लेकिन इनके अपने-अपने विशेषाधिकार है जैसे पुलिस, जज, टी टी आई, मिनिस्टर सभी की शक्ति सरकार का शक्ति है लेकिन उनके विभाग बंटे हुए हैं। एक के क्षेत्र में दूसरा काम नहीं कर सकता लेकिन अपने-अपने क्षेत्र के सब देवता हैं। सूर्य देवता, इन्द्र देवता, वरुण देवता, अग्नि देवता आदि सब विभिन्न फलदायिनी शक्तियां हैं जिन्हें प्रसन्न कर अर्जुन के काल में लोग विभिन्न सिद्धियां, भांति-भांति के अस्त्र-शस्त्र आदि प्राप्त करते थे। वर्तमान युग में तो इन सिद्धियों के लिए यज्ञ, तप आदि करने का भी प्रचलन नहीं रहा, ये भी बहुत झमेले की बातें हो गई हैं, अतः इस श्लोक का सीधा-सादा अर्थ समझें।

मनुष्य तुरन्त मिलनेवाला आनन्द प्राप्त करना चाहता है- स्थाई आनन्द में उसकी रुचि नहीं। तुरंत आनन्द तो विषय भोगों में मिलता है, भले

यह अस्थाई हो। हमें उसकी परवाह नहीं। हमें तो यही चाहिए। हमने स्थाई आनन्द का नया तरीका ढूंढ निकाला है कि निरंतर इन अस्थाई आनन्दों में मग्न रहें। रेडियो का आनन्द बोरियत में बदल जाये तो टी.वी. चला लें, टी. वी. से बोर हो जाये तो ताश जमा लें। ताश से थक जाएं तो डांस कर लें और जब कुछ भी अच्छा न लगे तो व्हिस्की तो है ही परमानंद देनेवाली। शराब के मजे को परमानंद समझने वाले सच्चिदानंद के पीछे भागकर जीवन क्यों गवाएंगे? और जो शराब के नशे की क्षणिकता और उसके बाद होने वाले नुकसान को ध्यान में रखेंगे वे उसके पीछे क्यों भागेंगे? इस प्रकार अलग-अलग लोगों के अलग-अलग जीवन मूल्य है, उन्हीं के अनुसार उनके अलग-अलग प्रकार के कर्म होते हैं और कर्मों के अनुसार ही वे अलग-अलग प्रकार के कर्मफल भोगते हैं।

अब भगवान इन अलग-अलग प्रकार के लोगों के विषय में बताने जा रहे हैं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।१३।।

मेरे द्वारा गुणों और कर्मों का विभाजन करते हुए (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) ये चार वर्ण रचे गये हैं। यद्यपि मैं इन वर्णों का कर्ता हूं फिर भी मुझ अव्यय परमेश्वर को तू अकर्ता ही जान।

यह एक ऐसा श्लोक है जिसे बहुत अच्छी तरह समझने की जरूरत है क्योंकि इसके दुरुपयोग के कारण जितना बिगाड़ हमारे समाज में हुआ है उतना किसी भी और बात से नहीं हुआ। 'ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र तो भगवान के ही बनाए हुए हैं अतः हमें उसे स्वीकार करना चाहिए और अपनी-अपनी जाति के अनुसार कर्म करना चाहिये। अब जो शूद्र कुल में जन्मा है उसे शास्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं, उसे तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों की सेवा के लिए ही बनाया गया है।' इस अर्थ के प्रचलन से हमारे समाज का बेड़ा गर्क हो गया, हम ऊंची-नीची जातियों के चक्कर में पड़कर बंट गए और समाज के कुछ लोग मूलभूत अधिकारों से ही वंचित कर दिये गये

और कुछ अयोग्य होते हुए भी अपने को ऊंचा समझते रहे। अब इन विकृतियों का दोष धर्म शास्त्रों पर मढ़ दिया जाने लगा है और तथाकथित बुद्धिजीवी हिन्दूधर्म से घृणा करते हैं क्योंकि इस धर्म में जाति प्रथा की घृणित परम्परा है जो किसी दूसरे धर्म में नहीं। हमें बारीकी से समझना है कि वास्तविक तथ्य क्या है।

भगवान जब कहते हैं कि मैंने सृष्टि की है तो इसका अर्थ केवल भारतीय या हिन्दू की रचना करना नहीं होता। सारी सृष्टि में चार प्रकार के लोग पाये जाते हैं। यह उनकी जाति नहीं, उनका वर्ण है जो उनके गुणों और कर्मों पर आधारित है। भगवान कहीं भी नहीं कहते कि वर्ण का आधार कुल या खानदान है।

ये गुण कौन से हैं जिनके अनुसार चार प्रकार के मनुष्य हैं? ये हैं- सत्व, रजस, तमस। ये गुण ही व्यक्ति को विशेष मानसिकता प्रदान करते हैं। कर्म से तात्पर्य है भौतिक क्रिया। इस प्रकार किसी व्यक्ति की मानसिकता कैसी है, उसके कर्म कैसे है इसके अनुसार सम्पूर्ण मानवता चार श्रेणियों में विभक्त है।

सत्व का लक्षण है शांति, रजस का लक्षण है कर्मठता और तमस का लक्षण है आलस, प्रमाद। सभी मनुष्य इन तीनों गुणों से मिलकर बने हैं। सभी व्यक्ति कभी शांत स्थिर होते हैं, कभी उनकी इच्छा काम करने को होती है और कभी नींद लेने की। जिस काल में जो गुण हावी रहता है वैसे ही कर्म होते हैं फिर भी प्रकृति से ही अलग-अलग व्यक्तियों में इनकी मात्रा अलग-अलग होती है। इनके अनुसार चार प्रकार के लोग होते हैं:

१. जिनकी प्रकृति में तमस और रजस कम हो, सत्व की प्रधानता हो। ये व्यक्ति धीर, गंभीर, शांत स्वभाव वाले और विचारवान होते हैं। ये आलसी नहीं होते किन्तु कठोर परिश्रम भी नहीं कर सकते। स्वाभाविक रूप से ये अध्ययनशील, चिंतनशील प्रवृति के होते हैं। उनके कर्म भी वैसे ही होंगे-अध्ययन, मनन, पठन-पाठन आदि। गुण कर्मों के इस मेल को ब्राह्मण कहते हैं।

२. जिनकी प्रवृत्ति में रजोगुण की प्रधानता हो पर सत्व गुण भी दबा हुआ रहे, तमोगुण अत्यंत अल्प हो। ऐसे व्यक्ति विचार भी कर सकते हैं

और उससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वे उन्हें कार्यान्वित कर सकने की क्षमता रखते हैं। अर्थात् इनके कर्म विचार और विवेक द्वारा परिचालित होते हैं अतः परोपकार, कर्तव्यपालन, दूसरों के हितों की रक्षा, त्याग आदि उनके सहज गुण होते हैं। गुण कर्मों के इस मेल को क्षत्रिय कहते हैं।

३. जिनकी प्रवृत्ति में सबसे अधिक प्रधानता रजस् के बाद तमस् की हो और अल्प मात्रा सत्व की हो वे कर्म बहुत कर सकते हैं। कर्मठता तो उनमें क्षत्रियों से अधिक होती है लेकिन तमस के मेल के कारण वे कर्म करते हैं तो अपने आराम, अपने सुख, अपने स्वार्थ के लिए ही। दूसरों के लिए तो वे हिलेंगे भी नहीं। ऐसे लोग अधिक से अधिक धन कमा सकते और वैभव के साथ रह सकते हैं। गुण कर्मों के इस मेल का नाम है वैश्य।

४. जिनकी प्रवृति में तमोगुण की प्रधानता हो, रजस और सत्व की अति अल्पमात्रा में रहे उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती कि वे स्वयं सोच विचार कर अपनी इच्छा से काम में लगे, न ही वे अध्ययनशील होते हैं, अतः ये स्वतंत्र व्यवसाय या लोकहित का कार्य नहीं कर सकते। इनसे तो काम लेना भी कला है और इस कला को जानने वाले ही इनका लाभ उठा सकते हैं। कम से कम काम और अधिक से अधिक आराम चाहने वाले इस चतुर्थ वर्ण को शूद्र कहा जाता है।

अब इसमें कहां यह बात आई कि ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण और शूद्र का बेटा शूद्र ही हो? यह तो अलग-अलग स्वभाव की बात है। हम अपना स्वभाव पहचानकर उसी भांति कार्य करेंगे तो सफल हो पायेंगे वर्ना स्वभाव में कर्मठता हो और धन वैभव का महत्व हो और राह चुन लें रिसर्च की तो न हम सफल होंगे, न शांति मिलेगी। यदि हम वैश्य से ब्राह्मण बनना चाहते हैं तो केवल कर्म बदलने से कुछ नहीं होगा। अपनी प्रकृति, अपना स्वभाव, अपनी वृत्तियां बदलनी होगी जिसके लिए साधना की आवश्यकता है लेकिन इस साधना की स्वतन्त्रता सबको है।

जैसे हम पेशे के आधार पर डाक्टर वर्ग, अध्यापक वर्ग, नेता वर्ग, व्यापारी वर्ग आदि कहते हैं उसी प्रकार किन्तु कुछ भिन्न ये अलग-अलग वर्ण है, जाति नहीं। इसका विभाजन समाज को बांटने के लिए नहीं, अपनी प्रवृत्ति को मनोवैज्ञानिक रूप से समझकर उसी प्रकार का कार्यक्षेत्र चुनने या

अपने तमस रजस को पहचान कर सत्व की वृद्धि के लिए साधना करने के लिए किया गया है। ईमानदारी के साथ समाज सेवा के लए रिसर्च करने वाले ब्राह्मण हैं। जो शिक्षा कार्य के प्रति निष्ठा और लगन रखते हैं वे शिक्षक भी ब्राह्मण हैं पर जो इसे व्यवसाय मानकर या लाचारी से करते हैं वे वैश्य या शूद्र ही हैं। शिक्षा इनके लिए व्यवसाय मात्र ही है। इसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में जिनमें सेवाभाव है वे तो क्षत्रिय माने जाएंगे पर जिन्होंने राजनीति को सौदेबाजी या व्यवसाय बना लिया है वे वैश्य वर्ण के माने जाएंगे। इस प्रकार कर्म एक होते हुए भी अलग-अलग गुणों के अनुसार भी वर्ण अलग-अलग हो जाते हैं।

लेकिन फिर भी यह आशंका आ सकती है कि भगवान ने किसी को सात्विक किसी को तामसी बनाया ही क्यों। और यदि बनाया ही है तो किसी बुरे कार्य के लिए कोई दोषी हो ही नहीं सकता क्योंकि उसका स्वभाव तो भगवान ने ही बनाया है। हम दर्शनशास्त्र की कोई बात जाने या न जाने, समझें या न समझें, इस बात का फायदा उठाना हमें खूब आता है। अपनी गलती जहां जग जाहिर हुई हम कह देते हैं- हमारा क्या दोष, भगवान ने ही मुझे ऐसा ही बनाया है। लेकिन अच्छाई का सेहरा बांधने तो हम तुरंत तैयार हो जाते हैं और अहंकार में फूल उठते हैं कि मैं अच्छा हूं, महान हूं त्यागी हूं, कर्मठ हूं, परोपकारी हूं। तब हम कभी नहीं कहते कि इसमे मेरी क्या बड़ाई, सब कुछ तो भगवान ही करते हैं। यदि हम पूर्ण निश्छलता एवं शतप्रतिशत आस्था के साथ अपने सद्गुणों और सत्कर्मों के लिए पूरी तरह ईश्वर को उत्तरदायी ठहरा सकें तो बेशक दोषों के लिए भी उसे जिम्मेदार करार कर दीजिए, सच बात तो यह है कि उस अवस्था पर जो पहुंच गया उसके कर्म दोषपूर्ण हो ही नहीं सकते।

भगवान न दोष देने वालों से झगड़ते हैं न अहंकारी को कुछ कहने आते हैं। वे तो बस मुस्कुराते रहते हैं। अर्जुन से कहते हैं कि यद्यपि मैं इनका कर्ता (बनानेवाला) हूं फिर भी तू मुझे अकर्ता ही जान क्योंकि इनकी क्रियाएं इनकी मर्जी के अनुसार होती हैं, मैं उसमें हस्तक्षेप नहीं करता। जैसे कार को चलाने वाली शक्ति वास्तव में पेट्रोल है लेकिन एक्सीडेंट के लिए पेट्रोल दंड का भागी नहीं। वह गाड़ी चलाने के कार्य का कर्ता होते हुए भी अकर्ता है। यह ठीक है कि पेट्रोल न होता तो गाड़ी रास्ते चलते व्यक्ति के

ऊपर न चढ़ती, लेकिन चढ़ाने के लिए जिम्मदार ड्राइवर है पेट्रोल नहीं। यही सबंधहीन सबंध हमारा और परमात्मा का है। इस विचार पर भगवान आगे कहते हैं-

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।१४।।

मुझे कर्मों का लेप नहीं होता (क्योंकि) कर्म के फल में मेरी कोई स्पृहा नहीं होती। जो व्यक्ति इस प्रकार मुझे अच्छी तरह जान लेता है वह (भी) कर्मों से नहीं बंधता।

पिछले श्लोक में भगवान ने कहा है कि मैं चारों वर्णों का कर्ता होते हुए भी अकर्ता हूं। प्रस्तुत श्लोक में उनके अकर्ता होने का कारण बताया गया है। वे अकर्ता इसलिए हैं क्योंकि उनमें कर्मफल के लिए कोई लालसा नहीं है। फल के लिए कर्म करने वाला ही कर्ता होता है। जैसे जज किसी को मृत्युदंड देता है तो मृत्यु का कारण होते हुए भी जज को कर्ता नहीं कहा जा सकता क्योंकि अपराधी को दंड वह अपनी इच्छा, स्वार्थ या लाभ के लिए नहीं देता। यह तो एक व्यवस्था है जिसके नियम में वह स्वयं बंधा हुआ है। कर्म के फल से बंधा हुआ न होने के कारण कर्म का लेप भी उस पर नहीं होता अर्थात् वह हिंसा का भागी नहीं होता।

ईश्वर का विधान भी संविधान के समान है, यदि चोर को दण्ड और सिपाही को पुरस्कार मिलता है तो इसमें गुण दोष न संविधान बनाने वाले का है न संविधान का ही। चोर सिपाही तो अपने अपने कर्मों के ही फल पा रहे हैं। भगवान के न कर्म का लेप है, न कर्मफल की स्पृहा, न कर्तापन का भाव है, न भोक्तापन का भाव। इसीलिए वे किसी कर्म से बंधे हुए नहीं हैं।

पहले भी स्थान स्थान पर बताया गया है कि कर्म व्यक्ति को दो प्रकार से बांधते हैं। कर्म करते समय जब हम सोचते हैं कि मैं ही करने वाला हूं तो कर्म के समाप्त हो जाने पर भी अहंकार शेष रह जाता है और मनुष्य के जीवन को, उसके विचारों को, उसकी क्रियाओं को प्रभावित

करता है। यह कर्तापन का अहंकार एक प्रकार का कर्म बंधन है।

दूसरा कर्म बंधन है भोक्तापन का। जब हम किसी फल की आशा से कर्म करते हैं तो भोगने की तीव्र लालसा से हम बुरी तरह बंध जाते हैं। फल मिले तब भी, न मिले तब भी तरह-तरह के राग-द्वेष हमारे चित्त में पैदा होकर भविष्य को प्रभावित करते रहते हैं। चूंकि भगवान में ये दोनों बातें नहीं है अतः वे मुक्त है। किसी भी गुण दोष के भागीदार भी नहीं हैं और इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में वे कहते हैं कि जो व्यक्ति इस प्रकार मुझे अच्छी तरह जान लेता है वह भी बंधनों से मुक्त हो जाता है।

यहां अभिजानाति शब्द का व्यवहार किया गया गया है। जानाति का अर्थ है जानना और अभिजानाति का अर्थ है हर तरह से भली भांति जानना। इसका तात्पर्य यह है कि जो इस प्रकार अच्छी तरह समझ लेता है कि ईश्वर के कर्ता भोक्ता भाव नहीं है अतः वह मुक्त है वह स्वयं भी कर्ता भोक्तापन का त्याग कर देता है। वह समझ लेता है कि वह जो कुछ भी कर रहा है वह परमात्मा की जीवन दायिनी शक्ति के कारण ही संभव है और फिर उसी परमात्मा की असंगता को देखता है तो मुग्ध हो उठता है, उसका अहंकार स्वयमेव दूर हो जाता है। जब वह ईश्वर के कर्म करने के तरीके को देख समझ लेता है कि कैसे इतना सुन्दर संसार बनाते हुए, उसमें निरंतर कार्य करते हुए भी वह निर्लिप्त है तो स्वयं उसमें भी वैसे ही कार्य करने की प्रेरणा जागती है। वास्तव में हम संसार को देखते हैं पर संसार बनाने वाले को नहीं देखते। संसार को देखने वाले इसमें बंध जाते हैं और इसे बनाने वाले को देखने वाले सभी बंधनों से छूट जाते हैं।

संसार बनाने वाले ईश्वर की दिव्यता को जानकर कर्म बंधन से कैसे छूटते हैं? संसार को त्याग कर? कर्मों को त्याग कर? नहीं।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

पहले मुमुक्ष लोगों के द्वारा भी इस प्रकार (कर्म करने के रहस्य को) जानकर (ही) कर्म किया गया इस लिए तू (भी) उसी प्रकार कर्म कर जैसे पुरखों ने प्राचीन काल में किया था।

कर्म के प्रति श्रीकृष्ण का आग्रह इतना प्रबल है कि हर कुछ श्लोकों के बाद गीत की टेक की भांति एक बात पर उतर आते हैं- अर्जुन तू कर्म कर, युद्ध कर। कभी आत्मा की अमरता की बात करते हैं और कहते हैं आत्मा को अमर और देह को नश्वर जान तू युद्ध कर। कभी निष्कामता और असंगता का उपदेश देकर कहते हैं अर्जुन पाप पुण्य से ऊपर उठकर कर्म कर। कभी जनक का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जनक ने लोक में कर्म करते हुए भी परमतत्व को जाना था अतः कर्म करो। कभी अपना प्रत्यक्ष उदाहरण देते हुए कहते हैं कि मुझे देखो, कुछ प्राप्तव्य न होते हुए भी मै प्रतिपल लोकसंग्रह के लिए कर्म कर रहा हूं अतः तुम भी कर्म करो, और यहां कर्म बंधन में न बंधने की बात बताते हुए फिर पूर्वजों का हवाला देते हुए कहते हैं- 'अर्जुन उन्होंने कर्म बन्धन के इस रहस्य को समझकर कर्म करके ही मुमुक्षत्व को प्राप्त किया था अतः तू भी ऐसे ही कर्म कर।

इन विभिन्न उपदेशों मे हमें प्राचीनता और नवीनता का सुन्दर समन्वय मिलता है। भगवान जो बातें कह रहें हैं वे सुनने में बिलकुल नई हैं। बुद्धियोग शब्द तो अर्जुन ने कभी सुना भी नही था, कर्म शब्द से तो वह यज्ञ आदि ही समझता था किन्तु नवीनता में प्राचीन की उपेक्षा नहीं है। अपने साथ साथ जनक और अन्य मुमुक्ष पूर्वो का भी उदाहरण देते हुए वे अपने कथन की पुष्टि करते हैं। यह प्राचीनता और नवीनता के साथ नए अनुसंधान और पुरानी परम्पराओं का सांमजस्य है।

कुछ लोग परम्परावादी होते हैं। उन्हें कोई भी नई बात जचती नहीं। उन्हें कह दे कि हमारे शास्त्रों में ऐसा लिखा है, बस आंख मूंदकर उसपर चलेंगे, उसके रहस्य को बुद्धि या तर्क द्वारा समझने या प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा परखने या प्रयत्न करेंगे ही नहीं। इसके विपरीत कुछ ऐसे होते हैं जो प्राचीन बातों को मात्र अंधविश्वास मानकर उनसे आंख मूंद लेते हैं। उन्हें कहो कि मनु ने ऐसा कहा है तो वे सुनने को तैयार ही नहीं होंगे लेकिन कहें कि रसेल ऐसा कहते हैं, कार्ल मार्क्स ने यह कहा है तो बस उसे प्रमाण मानने को तैयार रहेंगे। तब वे यह नहीं सोचेंगे कि हमारे परिवेश में इन विदेशी चिंतकों की बात ठीक ठहरती है या नहीं। गीता इन दोनों प्रकार के अंधविश्वास से हट कर ज्ञान, चिंतन, प्रत्यक्ष प्रमाण और पूर्वजों के अनुभव

का लाभ, सभी के द्वारा किसी बात को जांच परखकर मानना सिखाती है। भगवान बार-बार अर्जुन को सोचने के लिए उत्साहित करते हैं।

हमने सोचना बंद कर दिया है। या तो हम परम्परावादी हैं या शास्त्रों की बातों को हठ के साथ नकारते हैं, उनपर चिंतन कर अपने परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयत्न कभी नहीं करते। हमारी विचार शक्ति इतनी कुंद हो गई है कि मंदिर जाकर पूजा करते हैं और दुर्बलों का शोषण करने में संकोच नहीं करते। एक ओर हम दान देकर पुण्यात्मा का गौरव प्राप्त करते हैं दूसरी ओर हमारे आश्रित ही एक-एक पैसे को तरसते हैं। एक ओर हम ईश्वर की सर्वव्यापकता की बात करते हैं दूसरी ओर किसी को अछूत कहकर दुत्कारते हैं। हम इंसानियत की बात करते हैं लेकिन हमारे अंदर का इंसान मर चुका है। जब तक हम उपनिषद्, गीता आदि को पूजा की वस्तु मानते रहेंगे और इसमें कही गयी बातों को सोच-विचार, जांच-परख कर समझने और जीवन में उतारने का प्रयत्न नहीं करेंगे, हमारे जीवन का यह विरोधाभास बना रहेगा और हम अपने देवत्व को तो क्या मनुष्यत्व को भी नहीं जान पायेंगे।

आंख मूंदकर किसी बात को स्वीकार करना या अस्वीकार करना सरल है लेकिन चिंतन, मनन और कर्म का व्यवहार- यह अध्यात्म पथ बड़ा जटिल है। यह जटिलता इसलिए है क्योंकि हम समझते ही नहीं कि कर्म किसे कहते हैं। भगवान कहते हैं:-

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

कर्म क्या है और अकर्म क्या है इस विषय में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हैं, इसलिए मैं तुझे कर्म का तत्व अच्छी तरह बताऊंगा जिसे जानकर तू अशुभ (अर्थात् संसार बंधन के दोष) से छूट जाएगा।

मोटे तौर पर शरीर की मांशपेशियां जब हिलती है तो हम समझते हैं कि हम कर्म कर रहे हैं और जब कुछ हिलता-डुलता नहीं तो हम समझते हैं कि अकर्म है। लेकिन यह बात इतनी सरल नहीं। बहुत बार ऊपर

से कर्म जान पड़ने वाला भी अकर्म होता है और अकर्म जान पड़ने वाला घोर कर्म होता है। जैसे हम बेकार की उछल-कूद करते रहें जिससे न हमें कुछ लाभ हो, न दूसरों को, तो वह शारीरिक क्रिया अकर्म ही है और समाधि में बैठा योगी कुछ कर्म न करता हुआ लगता है पर उसका अकर्म वास्तव में बहुत कठिन कर्म है।

भगवान कहते हैं कि कर्म-अकर्म का निर्णय लेने में बुद्धिमान व्यक्ति भी भ्रम में पड़ जाते हैं, अतः मैं तुम्हें अच्छी तरह इसके विषय में बताऊंगा। कर्म के विषय में सब कुछ जानने के बाद ही तुम निर्णय ले सकोगे कि क्या करना चाहिए, कैसे करना चाहिये। उचित कर्म करने पर तुम सभी बंधनों (अशुभ) से मुक्त हो जाओगे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा विकर्म का स्वरूप भी, फिर अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है।

पिछले श्लोक में भगवान ने कर्म और अकर्म शब्द का प्रयोग किया है और अब एक नया शब्द बतला रहे हैं- विकर्म। भगवान यह भी कहते हैं कि इन्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है और इसे समझने में बुद्धिमान व्यक्ति भी भ्रम में पड़ जाते हैं। आइए, हम देखें कि कर्म, विकर्म और अकर्म में ऐसी क्या जटिलता है।

गीता में हर-एक स्थान पर (उदाहरण स्वरूप- मां ते संगोस्तु अकर्मणि) अकर्म का अर्थ कर्म का अभाव ही लिया गया है और इससे बचने की सलाह दी गयी है। इसकी जटिलता तो अब आगे के श्लोक में बताने वाले हैं जब कर्म में भी अकर्म और अकर्म में भी कर्म हो जाता है, पर अभी हम इसके प्रचलित, शाब्दिक और व्यावहारिक अर्थ को ही देखने का प्रयत्न करें।

जैसे धर्म का विपरीतार्थक शब्द विधर्म है, उसी प्रकार कर्म का

विपरीतार्थक विकर्म है। तो कर्म का अर्थ करणीय कर्म अर्थात् अपने कर्तव्य का पालन, शरीर-यात्रा के लिए आवश्यक कार्य, अनुष्ठान इत्यादि। विकर्म का अर्थ अकरणीय, निंदनीय और कुत्सित कर्म होगा, जैसे-चोरी करना, झूठ बोलना, व्यभिचार में लिप्त होना आदि। अकर्म का अर्थ है निठल्लापन, आलस्य, प्रमाद आदि। गीता का संदेश यह है कि विकर्म और अकर्म से बचो तथा मुझे समर्पित करते हुए, मुझे स्मरण रखते हुए अपने कर्तव्य कर्म करो। ऐसे कर्म यज्ञ बन जाते हैं और बन्धन उत्पन्न करने के बदले पहले से लगे कर्मबंधन को छिन्न कर हमें मुक्ति का भाव दिलाते हैं।

एक शिक्षक के उदाहरण से समझें। उसके लिए कर्म है मन लगाकर विद्यार्थी को पढ़ाना। विकर्म में है घूंस लेकर पेपर आउट कर देना या नम्बर बढ़ाना। अकर्म है कक्षा में न पढ़ा कर गप्पें मारना या कामचोरी करना। यदि शिक्षक जीवन में अपना कल्याण चाहता है तो उसे अकर्म और विकर्म से बचते हुए समर्पित भाव से अपना कर्तव्य करना चाहिये। तभी उसे आत्मसंतोष हो सकता है। अकर्म से उसे कुछ 'हासिल' नहीं होगा और विकर्म से भले ही पैसे मिल जायें वह चिंता, तनाव, चोरी पकड़े जाने के भय और आत्मग्लानि के बंधन में पड़ जाएगा।

यह अर्थ तो बिल्कुल सीधा-सादा है। हम अपनाएं या न अपनाएं यह भिन्न बात है किंतु समझना कठिन नहीं। साधना की प्रारंभिक अवस्था तो इसे ही जीवन में उतारने का प्रयत्न करना है। लेकिन **गहना कर्मणो गतिः।** जैसे मैट्रिक तक की पढ़ाई सीधी-सादी है, पर जब हम किसी एक विषय में विशेषज्ञता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं तब उसकी जटिलताएं नजर आती हैं वैसे ही साधना के क्षेत्र में जब हम कदम रखते हैं तो शरीर की क्रियाओं के धरातल पर की गई व्याख्याता तो सरल है, पर मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक स्तर पर कर्म-अकर्म का भेद सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है और इसमें जटिलता नजर आने लगती है। उदाहरण के लिए डाल्टन की एटामिक थ्योरी लें जो कहती है कि एटम यानी परमाणु को विभाजित नहीं किया जा सकता। रसायनशास्त्र के विद्यार्थी को अब भी स्कूल में यह थ्योरी पढ़ाई जाती है क्योंकि इसकी सहायता से सारी रासायनिक क्रियाओं को समझा जा सकता है। इसके द्वारा विद्यार्थी आसानी से समझ लेता है कि हाइड्रोजन के दो परमाणु आक्सीजन के एक परमाणु के साथ जल का एक

अणु बनाते हैं। रसायन शास्त्र की सामान्य क्रियाओं के लिए यह ज्ञान उपयोगी तथा व्यवहारिक है, लेकिन कहा जा सकता है कि परमाणु की गति गहन है। जब इसके विभाजन को जानने बैठते हैं, न्यूक्लियर फिजिक्स की गहराई में जाते हैं तो इसके विभिन्न भाग प्रोटोन, न्यूट्रान, इलेक्ट्रान आदि की संरचना और उसके व्यवहार को समझने में बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी मोहित हो जाते हैं।

ठीक इसी प्रकार कर्म, विकर्म और अकर्म का यह प्रचलित अर्थ संसार में व्यवहार के लिए उपयोगी और आवश्यक है, लेकिन अध्यात्म की गहराई में उतरने वाले साधक के लिए यह विषय बहुत गहन है और इसमें बुद्धिमान व्यक्ति भी मोहित हो जाता है। यह गहनता भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

जो कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, वह योगी है तथा समस्त कर्मों को करने वाला है।

यहां भगवान कर्म की उस जटिलता को समझा रहे हैं जिसे समझने के लिए डिक्शनरी काफी नहीं। उसके लिए स्वयं साधना करनी पड़ती है और साधना के द्वारा जब व्यक्ति कर्म की इस गति को समझने का प्रयत्न करता है तो वह सिद्ध हो जाता है। वह परमात्मा के साथ तद्रूप हो जाता है। **'स बुद्धिमान् मनुष्येषु स योगी'** कहने से भगवान का यही तात्पर्य है। कर्म की यह जटिलता है कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म को देखना।

कर्म में अकर्म देखने का अर्थ है कर्म करते समय क्रिया शून्य आत्म चैतन्य स्वरूप का ध्यान रखना। जब हम कोई भी कर्म करते हैं तो हमें ध्यान रहे कि यह तो मेरी इंद्रियां हैं जो विषयों में विचरण कर रही हैं। यह तो मेरा मन है जो व्यर्थ की बातों में उलझ रहा है, यह तो मेरी बुद्धि है जो अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए योजनाएं बना रही है। ये शरीर, मन, बुद्धि मेरे उपकरण अवश्य है, लेकिन मैं शरीर, मन, बुद्धि मात्र नहीं।

मैं तो इनसे परे नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा हूं, जो इनका साक्षी चैतन्य है। मेरी उपस्थिति में ये क्रियाएं हो रही हैं, पर मैं इनका कर्ता नहीं द्रष्टा मात्र हूं। इस प्रकार विचार करने पर कर्ताभाव नहीं रहेगा। हम कर्म के बंधनों में उलझेंगे नहीं। कर्म में हम तभी उलझते हैं जब मन बुद्धि के साथ तादाम्य कर हम उन क्रियाओं में लगते हैं।

जैसे सुबह उठने से लेकर रात को सोने तक हम अनगिनत क्रियाएं करते हैं। यदि रात को हम उन सबको क्रम से याद करके बैठें तो हमें कुछ ही क्रियाएं याद आएंगी जैसे आज सुबह स्कूल के लिए समय पर तैयार न होने के कारण मैंने अपने बच्चों को बहुत जोर से डांटा, आज दोपहर को मैंने भोजन बड़ा स्वादिष्ट बनाया था, आज शाम टी वी पर मैंने पिक्चर देखी जो इतनी बोर थी कि मेरा मन किया टी वी पटक दूं इत्यादि। बच्चों को स्कूल भेजने के बाद मैंने स्नान किया, स्वादिष्ट भोजन के बाद मैंने मुंह धोया या टी वी देखने के समय मैंने एक ग्लास पानी पिया था यह याद भी नहीं आता। इसका कारण यह है कि स्नान करने, पानी पीने या, कुल्ला करने वाली क्रियाओं में हम अपने आप को 'लगाते' नहीं। वे केवल शरीर के स्तर पर बिलकुल सहज भाव से होती रहती हैं 'मैंने स्नान किया' यह भाव, यह अहंकार कभी आता ही नहीं अत: इन क्रियाओं की समाप्ति के बाद मन में कोई स्मृति, कोई वासना, कोई संस्कार, कोई विकार नहीं बचता। अर्थात् इन कर्मों ने हमें बांधा नहीं। लेकिन मैंने बच्चों को डांटा, मैंने स्वादिष्ट भोजन बनाया, मैं बोर हुई, इन सभी क्रियाओं से हमारा 'मैं' अर्थात् अहंकार जुड़ा रहता है, अत: डांटने की ग्लानि, स्वादिष्ट भोजन की ललक, दूरदर्शन से चिढ़ आदि संस्कार विकार बने रहते हैं और हमें बंधन में डालते रहते हैं। अत: कर्म में अकर्म देखने का तात्पर्य अपने कर्तापन के अहंकार का त्याग कर आत्म तत्व से युक्त होना है। ऐसा व्यक्ति ही बुद्धिमान और योगी है।

अब अकर्म में कर्म को देखने की बात समझें। बहुत सी क्रियाएं ऊपर से देखने में अकर्म जान पड़ती है, लेकिन उसमें घोर कर्म होता है। अब इसमें देखने की दो बातें हैं। पहली बात तो यह समझना है कि अकर्म की प्राप्ति का उपाय कर्म त्याग नहीं, बल्कि कर्म है। जैसे ध्यान मग्न भगवान बुद्ध की मूर्ति हमने देखी। हम समझ गए कि समाधि में व्यक्ति सभी कर्म का त्याग कर देता है। यह अकर्म है। अब हम भी अपने रोजमर्रा के

जीवन में जो कर्म कर रहे हैं उन सबको त्यागकर बैठ जाएं तो उससे अकर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। हम बैठ पाएंगे ही नहीं। अकर्म का रास्ता तो साधना अर्थात् कर्म से ही होकर है।

दूसरी बात हमें अपने आप में देखनी चाहिए। हम पांच मिनट के लिए अपनी इन्द्रियों का निग्रह करने का प्रयत्न करके ध्यान में बैठें तो जरा! हम देखेंगे कि शारीरिक स्तर पर भले ही कर्म नहीं हो रहा है, किन्तु मन में अनगिनत विचार और भी तेजी से घुमड़ रहे हैं। बुद्धि और तीव्रता के साथ चिन्ता दुश्चिन्ता कर रही है। और कुछ नहीं तो जूते चोरी होने की चिंता ही हमें व्याकुल बनाए दे रही है। यह भी अकर्म में कर्म देखते हुए अपने सत्य को जानना है और फिर निःस्वार्थ सेवा, दान, पूजा, भजन, कीर्तन, सत्संग आदि कर्मों के द्वारा चित्त की शुद्धि कर वास्तविक अकर्म को प्राप्त करना है।

भगवान कहते हैं कि ऐसा योगी, बुद्धिमान पुरुष सभी कर्मों को करने वाला है। सभी कर्मों को करने वाला तो परमात्मा है और ऐसा कहने से भगवान का तात्पर्य यही है कि योगी पुरुष की जीवात्मा परमात्मा में भेद नहीं रह जाता। वह कर्म करता है लेकिन अकर्ता बनकर और इस प्रकार उसके कर्म ही उसे अकर्म तक पहुंचा देते हैं। ऐसा व्यक्ति कर्मी नहीं, वरन् कर्मयोगी है। अगले कुछ श्लोकों में भगवान ऐसे कर्मयोगी की विस्तृत जानकारी दे रहे हैं। कर्मयोगी के संदर्भ में भगवान सिद्धावस्था समझा रहे हैं। इसे नजर में रखकर ही साधक अपनी साधना कर सकता है ताकि कर्म-अकर्म की पहचान हो सके और कर्म करते हुए भी कर्म से मुक्ति बोध हो सके। भगवान कर्मयोगी के लक्षण बताते हुए कहते हैं:-

यस्य सर्वे सभारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

जिसकी समस्त चेष्टाएं काम और संकल्प से रहित है और ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा जिसके कर्म भस्म हो चुके हैं, ज्ञानी लोग उसे पंडित कहते हैं।

जब भगवान ने कर्म में अकर्म को देखने और अकर्म में कर्म देखने वाले को बुद्धिमान कहा तो अर्जुन के मन में कौतूहल हुआ कि ऐसा व्यक्ति संसार में किस प्रकार व्यवहार करता है, उसके कर्म कैसे होते हैं? भगवान ने तो कर्म के विषय में सब कुछ अच्छी तरह समझाने का वादा किया था अत: वे अब कर्मयोगी का चित्र खींचकर उसके माध्यम से कर्म का स्वरूप समझा रहे हैं। दूसरे अध्याय में भी इसी प्रकार अर्जुन के कौतूहल के समाधान के लिए भगवान ने शब्द चित्र के द्वारा बताया था कि जिसकी बुद्धि समत्व में स्थित हो गई हो वह स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे व्यवहार करता है। हम देखेंगे कि दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ और चतुर्थ अध्याय के कर्मयोगी के चित्र में अन्तर कुछ भी नहीं। अर्थात् ज्ञान के द्वारा जिस अवस्था को प्राप्त किया जाता है उसी अवस्था को कर्म के द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है।

प्रस्तुत श्लोक में भगवान दो लक्षण बताते हैं- (१) उसकी सारी चेष्टाएं कामना और संकल्प से रहित होती है, (२) उसके कर्म ज्ञानाग्नि में दग्ध हो चुके होते हैं।

काम संकल्प वर्जिता- कामना और संकल्प से रहित चेष्टाओं को पहले दिए उदाहरण से ही समझें कि जब रात को सोते समय आत्मनिरीक्षण के लिए हम सारे कर्मों को याद करते हैं तो वे कर्म याद ही नहीं आते जिसमें हमारे मन बुद्धि लिप्त नहीं हुए थे। कामना का आधार है मन और संकल्प का आधार है बुद्धि अत: कामना और संकल्प रहित का अर्थ मन बुद्धि की निर्लिप्तता है। उदाहरण के लिए सुबह भोजन के बाद हमने मुंह धोया। यह एक सहज क्रिया थी जो केवल शरीर के स्तर पर हुई अत: आत्म निरीक्षण के वक्त हमारे ध्यान में बिलकुल नहीं आई लेकिन रात के भोजन के बाद मुंह धोते वक्त हमने पाया कि बेसिन बहुत गंदा था। हमें क्रोध आया, हमने नौकर को डांटा और गुस्से में अपने हाथ से ही मल-मलकर उसे साफ किया। यह क्रिया हमें अच्छी तरह याद रहेगी केवल उसी रात नहीं अगले कई दिनों तक हम रोज देखते रहेंगे कि आज फिर नौकर ने बेसिन साफ करने के काम में ढील तो नहीं दे दी। तो मुंह धोने की इस क्रिया में स्वच्छ बेसिन की कामना और रोज सफाई कराने का संकल्प हमें इसके साथ बांध देता है। कर्मयोगी के कर्मों में कामना और संकल्प का अभाव होता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि उसका बेसिन गंदा रहेगा। सफाई वह भी करेगा लेकिन मुंह धोने की क्रिया के समान यह कार्य भी सहज भाव से हो जाएगा, उसके मन बुद्धि पर इसका कोई लेप नहीं होगा। वह स्वयं साफ करे या नौकर से करवाएं, वह केवल इतना सोचेगा कि अमुक काम करना है बस। कार्य समाप्ति के साथ-साथ ही उसकी बद्धता समाप्त हो जाती है।

यह कैसे संभव है कि हम कार्य करें भी और कामना तथा संकल्प से भी न बंधे? इसका उत्तर दूसरे लक्षण में दिया गया है- ज्ञानाग्निदग्धकर्माणः।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणः - कर्मयोगी के कर्म कामना-संकल्प अर्थात् वासना से परिचालित नहीं होते क्योंकि उसकी वासनाएं ज्ञानाग्नि में दग्ध हो चुकी हैं। वह जान चुका है कि जीवात्मा परमात्मा में कोई भेद नहीं, सभी क्रियाओं को करने वाला परमात्मा ही है। उसकी अपनी वासनाओं के साथ इन कर्मों का कोई लेना-देना नहीं है, उसे तो प्रारब्धवश जो कर्तव्य कर्म मिलते हैं उसे अपनी पूरी योग्यता के अनुसार अच्छी से अच्छी तरह पूरा करना है।

इस प्रकार भगवान ने पहले लक्षण में साधक की अवस्था बता दी और दूसरे में सिद्ध की अवस्था।

कर्मयोगी के विषय में और विस्तार से बताते हुए भगवान कहते हैं-

त्यक्त्वा कर्मफलासंग नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥२०॥

वह कर्म और फल में आसक्ति को त्याग सदैव तृप्त रहता है और (समस्त सांसारिक) आश्रयों से विमुख हो जाता है। वह कर्मों में विशेष रूप से प्रवृत्त होने पर भी (वास्तव में) कुछ नहीं करता (क्योंकि उसके कर्म अकर्म में परिणत हो जाते हैं)।

अलग-अलग संदर्भ में बार-बार भगवान कर्म करते रहने और फल की आसक्ति को त्यागने की बात दुहराते हैं ताकि किसी भी कोण से व्यक्ति में कामचोरी की धारणा न बन जाए। यहां एक बार फिर कर्मयोगी का

विवरण देते हुए वे स्पष्ट कर देते हैं वह कर्म और फल की आसक्ति को त्यागता है, कर्म को नहीं, फल को भी नहीं।

त्यक्त्वाकर्म फलां संग– कई बार सतही तौर पर कह दिया जाता है कि गीता कहती है, 'फल को त्यागो और कर्म करो' और मन के किसी कोने में यह प्रश्न उठता है कि फल त्यागकर कर्म करने की बात व्यवहारिक कैसे हो सकती है? यहां समझ लेना चाहिए कि कर्म या फल को नहीं, उनकी आसक्ति को त्यागना बताया गया है। आइए, इसे जरा और एक बार स्पष्ट समझ लें।

कर्म तो हम त्याग ही नहीं सकते। यह तो जीव विज्ञान के अनुसार संभव ही नहीं है। जब तक शरीर कर्म करता है तभी तक मनुष्य जिन्दा है। कर्म तो जीवन का लक्षण है। कर्म तो करना ही होगा। हां, हम इतना कर सकते हैं कि सार्थक की अपेक्षा निरर्थक कर्म करें, कर्तव्य कर्म की अपेक्षा विकर्म करें, संतोष की आड़ में आलस करें, जो कि कुछ लोग करते ही हैं। 'फल की कामना नहीं अतः कर्म भी नहीं।' लेकिन विचार करें कि क्या वे कर्म के बिना रह रहते हैं। वे अधिक से अधिक यह कर सकते है कि व्यवसाय कर्म करने के बदले सोने का कर्म कर लें या गप्पें मारने और ताश खेलने का कर्म कर लें। तो यदि कर्म त्याग संभव ही नहीं तो क्यों न सार्थक कर्म ही किए जाएं? कर्म त्याग की बात ही क्यों सोचें?

फल त्याग की भी बात हम नहीं सोच सकते क्योंकि फल पर हमारा अधिकार ही नहीं। जो वस्तु हमारे अधिकार की नहीं उसे हम त्याग भी कैसे सकते हैं। हम चाहें तो भी म्युनिसिपल के पार्क का दान नहीं कर सकते, क्योंकि उस पर हमारा अधिकार ही नहीं। हम तो उसी भूमि का त्याग कर सकते हैं जो हमारे नाम से रजिस्टर्ड हो। फल त्यागना संभव होता तो हम कम से कम अपने समस्त कुकर्मों के फल तो जरूर ही त्याग देते, लेकिन हम ऐसा नहीं कर सकते, हम अच्छे और बुरे दोनों फलों को ग्रहण करने के लिए बाध्य हैं। तो फिर क्या है हमारा जिसे हम त्याग सकते हैं? वह है आसक्ति, आग्रह, चिन्ता, हठ आदि। इन्हें हम छोड़ सकते हैं और कर्मयोगी बनना है तो इन्हें छोड़ना ही होगा। यह चिन्ता, आग्रह, हठ, आसक्ति फल के प्रति तो होती ही है, बहुधा कर्म के प्रति भी हो जाती है। कई बार

निष्काम सेवा करने वाले अपने कर्म से इतने आसक्त हो जाते हैं कि छोड़ नहीं सकते। जैसे कोई निस्वार्थ भाव से गरीब बच्चों की शिक्षा के लिए कार्य कर रहा है, दूसरा नशाखोरी के विरुद्ध कमर कसे हुए है। दोनों के फलासक्ति न भी हो तो कर्मासक्ति हो सकती है। पहला शिक्षा के क्षेत्र को छोड़ दूसरे क्षेत्र में काम करना ही नहीं चाहेगा, लेकिन दूसरा व्यक्ति यदि सच्चा कर्मयोगी है और नशाखोरी के विरुद्ध कुछ करने योग्य परिस्थितियां नहीं है तो वह शिक्षा या किसी भी अन्य माध्यम से कार्य करने को तत्पर होगा। बड़े-बड़े त्यागी, महात्मा अपने आश्रम की गतिविधियों से ऐसे बंध जाते हैं कि उनसे अलग होने का अवसर आता है तो दुखी हो जाते हैं। अकर्म में स्थित कर्मयोगी कर्म और फल दोनों की आसक्ति से मुक्त रहता है।

नित्यतृप्तः निराश्रयः - कर्मासक्ति और फलासक्ति तभी छूटती है जब व्यक्ति नित्य तृप्त और निराश्रय हो। अतृप्ति अभाव की सूचक है। जिसे अभाव का अनुभव होगा वही कुछ पाने की आसक्ति रखेगा और उसकी पूर्ति के लिए किसी व्यक्ति वस्तु या क्रिया पर आश्रित होगा। जिसे किसी वस्तु की चाह नहीं वह नित्य तृप्त और निराश्रयी है, भगवान कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति सब कुछ करके भी कुछ नहीं करता क्योंकि उसके कर्म अकर्म बन चुके हैं।

कर्मयोगी के शब्द चित्र में और रंग भरते हुए भगवान कहते हैं-

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वान्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

वह आशारहित, चित्त को जीतने वाला, सभी प्ररिग्रहों का त्यागी होता है। वह केवल शरीर संबंधी कर्म करता हुआ पाप को नहीं प्राप्त होता है।

तीसरे अध्याय में भी भगवान ने अर्जुन को युद्ध कर्म करने का उपदेश देते हुए कहा था **'निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगत ज्वरः।'** यहां भी फिर कह रहे हैं कि कर्मयोगी आशा रहित होकर कर्म करता है। तात्पर्य

अर्जुन को यही बताना है है कि इस प्रकार तुम भी कर्म-अकर्म को समझ पाओगे तो कोई पाप नहीं लगेगा।

यहां भी कर्मयोगी के चार लक्षण बताए गए हैं:-

निराशी- इसका अर्थ निराश रहना नहीं, बल्कि आशा यानी अपेक्षा का अभाव है। हम जरा सा कुछ करते हैं तो दुनिया भर को कोसते हैं। 'फलां को जरा भी परवाह नहीं, अमुक ने कुछ भी मदद न की' आदि-आदि। और सेवा कार्य जितनी प्रसन्नता नहीं देता उससे अधिक हमें दुख दे देता है। सेवा ही नहीं, जीवन के हर कार्य में अपेक्षा के त्याग के बिना मुक्तिबोध हो ही नहीं सकता।

यतचित्तात्मा- इसका अर्थ अन्त:करण और शरीर पर नियंत्रण रखना है। पहले कहा गया था कि कर्मयोगी कामना और संकल्प को त्याग देता है। क्या इसका मतलब यह है कि वह बुद्धि से काम लेना बंद कर देता है? क्या वह बिना योजना बनाए जो सामने सूझ पड़े वही करता है? ऐसा नहीं। यह तो मूढ़ता की स्थिति है। कर्मयोगी के तो प्रत्येक कर्म सुन्दरतम होते हैं। वह योजना बनाता है अर्थात् बुद्धि से काम लेता है, लेकिन बुद्धि मन के द्वारा नहीं चलाई जाती। शरीर मन के नियंत्रण में, मन बुद्धि के नियंत्रण में और बुद्धि आत्मनियंत्रण में होती है।

त्यक्तसर्व परिग्रह- सारा परिग्रह यानी संचय छोड़ देता है। परिग्रह हम तब करते हैं जब भविष्य की अपनी कामनाओं की पूर्ति के प्रति बहुत जागरूक रहते हैं। पता नहीं कल हम जुगाड़ कर पाएंगे कि नहीं अत: आज ही संचय करके रख लें। इसमें सबसे मजेदार बात धन के संचय की है। अपने भविष्य की सुरक्षा के लिए हम धन संचय करते हैं जबकि धन से अधिक असुरक्षित दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। धन को ही लूटने सब आते हैं और हम अपनी जान पर खेलकर भी धन को बचा नहीं पाते। जो स्वयं सुरक्षा की दृष्टि से इतना कमजोर है वह हमें सुरक्षा क्या देगा? यह तो ऐसा ही है कि हम चोर लुटेरों के मुहल्ले में जाते वक्त एक सजी-धजी सुन्दर स्त्री को अपनी सुरक्षा के लिए ले जाएं। वह हमारी रक्षा क्या करेगी, हमारी जान तो और खतरे में पड़ जाती है। वैसे सिद्धांत की बातें और उदाहरण बघार कर धन के व्यवहारिक महत्व को नकारा नहीं जा सकता। दैनिक

आवश्यकताओं की पूर्ति तो बड़े-बड़े साधुओं को भी चाहिए और उनका धन लगे या उन्हें दान देने वाले का, धन के बिना तो भोजन भी खरीदा नहीं जा सकता। सर्वपरिग्रह का त्याग तो सिद्ध पुरुष ही कर सकते हैं। पर हम साधारण गृहस्थ यदि शांति चाहते हैं तो इतना तो कर ही सकते हैं कि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन का उपार्जन और संचय करें, पर यह भ्रम न पालें कि अब हम बिल्कुल सुरक्षित हो ही गए। धन का महत्व हमारे शरीर के स्तर पर ही रहे, चित्त में प्रवेश न करे। कर्मयोगी का अगला लक्षण कुछ इसी भाव की पुष्टि करता है-

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्- उसके कर्म शरीर से ही होते हैं। एक बार फिर याद कर लें कि शास्त्रों के शब्दों को डिक्शनरी द्वारा नहीं, चिन्तन मनन द्वारा समझा जाता है। शरीर से ही कर्म करने का अर्थ केवल ईंट ढोने या ठेला चलाने का काम करना नहीं। तात्पर्य यही है कि कर्म में चित्त फंसा हुआ नहीं रहता। जैसे शारीरिक मेहनत जब तक हम करते हैं, तब तक हमारी उर्जा खर्च होती है, हम जब चाहें शरीर का कार्य छोड़कर इसे आराम दे सकते हैं, पर मन जब थक जाता है, परेशान भी हो जाता है तब हम तब तक उसे आराम नहीं दे पाते जब तक कि दो-चार पेग शराब या एक-आध नींद की गोली हलक से नीचे न उतारी जाए। कर्मयोगी के पास वह कला है कि वह मन बुद्धि से काम ले भी लेता है और वे कर्म में फंसते भी नहीं थकते भी नहीं। यह कला क्या है? भगवान अगले श्लोक में बताते हैं-

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

वह जो कुछ मिल जाए उसी को पाकर संतुष्ट रहता है। वह समस्त द्वंद्वों से रहित है, वह ईर्ष्या रहित है और कार्य की सफलता असफलता में उसकी बुद्धि समान होती है (इसलिए) वह कर्म करता हुआ भी उससे आबद्ध नहीं होता।

यदृच्छालाभ संतुष्टः -हमने कोई कर्म किया पर कर्म करते समय हमारे दिमाग में यह नहीं था कि इसका अमुक फल अमुक रूप में ही

मिलना चाहिए तब जो भी मिल जाता है उसमें हम संतुष्ट हो जाते हैं। फल के प्रति आग्रह और हठ ही वह न मिलने पर असंतोष पैदा करता है। तभी मन फंसता है, अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प पैदा होते हैं। उदाहरण स्वरूप जब हम होटल में जाते हैं तो हम आशा करते हैं कि भोजन बढ़िया और मसालेदार होना चाहिए और यदि सब्जी में नमक नहीं हुआ तो हम आग बबूला हो उठते हैं। कभी-कभी तो होटल मैनेजर से भी झगड़ पड़ते हैं कि कीमत तो बहुत वसूलते हो पर सर्विस का कुछ ख्याल ही नहीं। लेकिन यदि अस्पताल में भर्ती हुए और बिना नमक का खाना मिला तो हम नर्स से पूछते हैं। नर्स कह देती है कि डाक्टर ने मना किया है। हम संतोष धारण कर लेते हैं। उस वक्त नहीं सोचते कि दो हजार रुपये दैनिक शुल्क देने पर भी स्वादिष्ट भोजन क्यों नहीं मिला। न हम यह सोचते हैं कि जब भोजन ही बढ़िया नहीं मिल रहा तो पांच सौ रुपये क्यों दें, क्योंकि हम समझते हैं कि वही खाने को मिलेगा जो हमारे लिए उचित है। भोजन हम कम खाएं या अधिक पर मानसिक उद्वेग नहीं होता। इसी प्रकार कर्मयोगी की दृढ़ धारणा होती है कि कर्म फल उतना ही मिलेगा जितना मिलना चाहिए। ऐसी धारणा होने पर उसका चित्त कामचोरी को भी आश्रय नहीं देगा और उद्विग्न भी नहीं होगा। इस प्रकार यदृच्छालाभ संतुष्टि अपने मन को फंसने से बचाने की कला है।

द्वन्द्वातीतः - शरीर को होने वाले तकलीफ-आराम, मन को होने वाले सुख-दुख, बुद्धि में उपजने वाले राग-द्वेष सब क्षणिक हैं और आते जाते रहते हैं। यह मानकर जो व्यक्ति कर्म करता है उसमें सहनशीलता आ जाती है और ये द्वन्द्व उसे क्षुब्ध नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्ति को द्वंद्वातीत कहते हैं। वह कर्म करते हुए भी फंसता नहीं। इसे समझने के लिए हमारा पुराना उदाहरण लें गंदे बेसिन को साफ करने का। यदि हम यह सोच लें कि नौकर भी तो आखिर आदमी ही है, आज भूल गया होगा तो हम उसे बुलाकर कराएं या स्वयं साफ करें, वह कार्य हमें उद्विग्न नहीं करेगा, बंधन में नहीं डालेगा। परेशान तो तभी होते हैं जब कि हम अपनी अपेक्षाओं, अपनी सुख सुविधा से जरा भी टस से मस होने को तैयार नहीं होते।

विमत्सरः -कर्मयोगी के हृदय में किसी के प्रति मात्सर्य यानि ईर्ष्या नहीं होती। ईर्ष्या का मूल भी तो कामना ही है। हम कुछ चाहते हैं, हमें नहीं

मिलता लेकिन पड़ोसी को मिल जाता है तो हमें ईर्ष्या होती है। यह ईर्ष्या ऐसी बेतुकी है कि महलों में रहने वाले अक्सर झोपड़पट्टी वालों से ईर्ष्या करते हुए पाए जाते हैं कि ये कितने सुखी हैं। रोज कमाते खाते हैं और मस्त होकर सो जाते हैं। अपने को जो मिले उसमें संतुष्ट रहने वाला दूसरों से ईर्ष्या भला क्यों करेगा?

समसिद्धावसिद्धौ – कर्मयोगी न तो सफलता में इतराता है न असफलता में हाथ पैर ठंडे कर पड़ जाता है। उसे तो केवल कर्म करने के अधिकार का भरपूर सदुपयोग करना है और सफलता या असफलता के रूप में जो भी फल मिले उसे शिरोधार्य करना है। सफलता पर उछलने-कूदने और असफलता पर रोने पीटने से स्थिति में बनने बिगड़ने वाला तो कुछ है नहीं। कुछ होगा भी तो यही कि इस चांचल्य के कारण हम अपनी कर्म शक्ति और विवेक भी खो बैठेंगे और भविष्य के बनते कार्य को भी बिगाड़ लेंगे।

भगवान पुनः कहते हैं कि इन गुणों से युक्त पुरुष कर्म करते हुए भी बंधता नहीं।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

उस आसक्ति से रहित, ज्ञान में स्थित हुए चित्तवाले, यज्ञ के लिए कर्म अनुष्ठान करने वाले तथा राग द्वेष से मुक्त पुरुष के समग्र कर्म नष्ट हो जाते हैं (अर्थात् बंधन उत्पन्न नहीं कर पाते)।

गतसंगस्यः- कर्मयोगी संग से रहित होता है। पहले भी भगवान ने त्यक्त्वा कर्म फलासंग में असंगता की बात कही थी लेकिन वह असंगता कर्म और फल के संदर्भ में थी। यहां बताई गई असंगता व्यक्ति और वस्तु के संदर्भ में है। कर्मयोगी किसी के साथ आसक्ति नहीं रखता अतः अगला लक्षण उसमें स्वयमेव आ जाता है।

मुक्तस्यः- जो आसक्त नहीं है वही मुक्त है। आसक्ति तो बंधन है।

इसी के कारण ही तो हमारा हृदय किसी में फंसता है। हमें अपने घर से, फर्नीचर से, कपड़ों से, पुत्रों से, पौत्रों से यहां तक कि बेकार सामान की कोठरी में रखी गई वस्तुओं से भी आसक्ति होती है। इसके प्रभाव को समझने के लिए बहुत सी डोरियों का एक-एक सिरा अपनी कमर में बांध लें और दूसरा सिरा उन सभी वस्तुओं और व्यक्तियों में बांधकर देखें जिनमें हमारा मोह है। हम देखेंगे कि हमें एक इंच भी हिलने की आजादी नहीं। हम जरा भी हिलें तो कोई न कोई वस्तु टूट जाएगी और हम दुखी हो जाएंगे। जब तक आसक्ति की इन डोरियों को काटा न जाय हम मुक्त नहीं हो सकते।

ज्ञानावस्थित चेतसः-कर्मयोगी का चित्त ज्ञान में स्थित होता है। स्वामी विवेकानन्द का एक प्रिय कथन था-'दीवारों को किसी के साथ आसक्ति नहीं होती, गाय कभी झूठ नहीं बोलती। इसका अर्थ यह नहीं कि वे महान हैं और हमें उनके जैसा बनना है।' कोई भी जड़ वस्तु या पशु जो कुछ भी करता है वह अपने प्रकृति प्रदत्त सहज गुण के कारण करता है। वह चाहे तो भी उससे अलग कुछ नहीं कर सकता। अतः इस गुणों के आधार पर उन्हें महान नहीं कहा जा सकता। बया इतना सुन्दर घोंसला बनाती है कि मनुष्य नहीं बना सकता। लेकिन वह वैसे ही घोंसले को छोड़ कर और कुछ बना नहीं सकती। आदमी ही है जो अपनी बुद्धि और ज्ञान के बल पर तरह-तरह के घर बनाता है, लोगों के मोह में फंसता भी है, छूटता भी है। कुछ लोगों को किसी भी प्रकार की चेतना नहीं होती, वे किसी से प्रेम भी नहीं कर सकते, किसी का न अच्छा कर सकते हैं न बुरा कर सकते हैं उन्हें कर्म-अकर्म-विकर्म का ज्ञान ही नहीं। ऐसे व्यक्ति योगी नहीं मूढ़ कहलाते हैं। योगी की अनासक्ति, निराभिमान और मुक्तिबोध ज्ञानजनित होता है।

यज्ञायाचरतः-उसके आचरण यज्ञ के लिए होते हैं। तृतीय अध्याय में भगवान ने यज्ञ के यथार्थ स्वरूप की जानकारी दी थी। इसका अर्थ केवल अग्निहोत्र नहीं। कोई भी कर्म जब सबके साथ मिलजुकर, अपने अभिमान को त्यागकर यथाशक्ति अपना योगदान देने की भावना और परस्पर सबके हितों की रक्षा के लिए किया जाता है वह प्रत्येक कर्म यज्ञ है। भगवान कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं। नष्ट होने

का अर्थ बेकार होना नहीं वरन् अकर्म में बदलना है ताकि वह कोई बंधन उत्पन्न न कर सके।

कर्मयोगी के लक्षणों का उपसंहार करते हुए भगवान कहते हैं-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।।

उस पुरुष के लिए अर्पण (अग्नि में घी डालने की करछी) भी ब्रह्म है और हवि (घी आदि) भी ब्रह्म है। वह ऐसा मानता है कि ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूप कर्ता द्वारा ही हवन किया गया। इस प्रकार सब कर्मों को ब्रह्म रूप ही देखता हुआ उसके द्वारा ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

पिछले श्लोक में भगवान ने दो शब्दों का प्रयोग किया था- ज्ञानावस्थित चेतसः और यज्ञायाचरतः। इस श्लोक में बता रहे हैं कि यह ज्ञान कैसा है और यज्ञ कर्म कैसा होता है यानी किस भाव के साथ किया गया कर्म यज्ञ बना जाता है।

यज्ञ तो हर कर्म बन सकता है लेकिन यदि शिष्य को समझाना है तो यज्ञ का जो प्रचलित स्वरूप है उसके हर अंग के साथ तुलना करनी होगी। जैसे शृंगार रस का अत्यंत प्रचलित रूपक है- भंवरे का फूल पर मंडराना। फूल पर मंडराते भंवरे को देखना आम बात है अतः हम उसके माध्यम से समझाते हैं- फूल प्रेयसी है, भंवरा प्रेमी है, मंडराना उसकी शृंगारिक क्रिया है इत्यादि।

इसी प्रकार उस काल में कर्म का प्रचलित स्वरूप था यज्ञ। अतः यज्ञ के विभिन्न अंगों द्वारा ही भगवान कर्म यज्ञ समझाने जा रहे हैं। यज्ञ में एक यज्ञ कर्ता होता है जो अग्नि जलाकर करछी से घी तथा अन्य पदार्थों की अहुति देता है जिससे उसे मनोवांछित फल प्राप्त होता है। भगवान यज्ञ का ज्ञान बता रहे हैं। यज्ञ कर्ता को यह ज्ञान हो कि वह स्वयं ही ब्रह्म है, अग्नि भी ब्रह्म है, यज्ञ के समस्त उपकरण भी ब्रह्म है और दी जाने वाली अहुतियां भी ब्रह्म ही है। इस भावना से किए गये यज्ञ का फल भी ब्रह्म ही होता है।

इस प्रकार अर्जुन को समझाने के लिए तो भगवान ने उस काल की प्रचलित क्रिया अर्थात् अग्निहोत्र का रूपक लिया लेकिन हम कलियुग के साधारण गृहस्थी तो अब ये अग्निहोत्र इत्यादि भी नहीं करते। हम तो विभिन्न प्रकार के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक कर्म करते हुए संसार में विचरण कर रहे हैं। हमें तो 'हरि को हर में' देखने का ही संदेश ग्रहण करना है। अपने आप में भी हरि को पहचानें, भगवान ने इस संसार में व्यवहार करने के लिए हमें जो वस्तुएं, सुविधाएं दी हैं वे भी हरि हैं, जिन व्यक्तियों साथ हमें व्यवहार करना है वे भी हरि हैं, हमारे चित्त में कर्म करने की भावना जागती है वह भी हरि रूप ही है और हम जो कुछ भी करते हैं वह हरि कर्म ही है।

यहां यह बात स्पष्ट हृदय में धारण कर लें कि हमारा विचार यह नहीं होना है कि यह सब वास्तव में तो वस्तु, व्यक्ति ही है, हम इनमें हरि की भावना ला रहे हैं। स्पष्ट समझें कि सत्य में सब हरि ही है, यह तो हमारी ही भूल थी कि अब तक इसमें मेरा धन, मेरा पुत्र, मेरा पति, मेरी पत्नी की भावना आरोपित कर रखी थी। भगवान कोई भाव या कल्पना नहीं, भगवान सत्य है। भाव तो हमारे मन की एक क्रिया है। हमें प्रयत्न इस बात के लिए नहीं करना है कि सबमें भगवान को कैसे देख पाएं। हम इस बात के लिए प्रयत्न करें कि सर्वरूप हरि में हमने अपनी वस्तु, व्यक्ति के झूठे भाव आरोपित कर रखे हैं वह कैसे छूटे। अज्ञान की निवृति होने पर ज्ञान तो अपने आप होता है।

यह स्पष्ट ज्ञान जिसे विज्ञान सहित हो जाय वही कर्मी होगा, वही सच्चा कर्मयोगी होगा जो सबसे अधिक कर्म करते हुए भी अकर्ता रहेगा और कर्म से होने वाले फल, यश, मान, बड़ाई, लोभ, मोह, लालसा आदि के बंधन उसे छू भी नहीं पाएंगे।

हिन्दुओं में भोजन के करने के पहले इस श्लोक का गान करने का परम्परा है। यह श्लोक हमें याद दिलाता है कि अन्न भी ब्रह्म ही है, भोजन की सामग्री भी ब्रह्म ही है, भोजन की क्रिया और हम यानी भोजन कर्ता भी ब्रह्म ही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हमारा प्रत्येक कर्म यज्ञ बन सकता है और हम सभी कर्मों के अकर्ता बन सकते हैं।

द्वितीय अध्याय में ज्ञान योग का उपसंहार करते हुए भगवान ने अंत में कहा था- **एषा ब्राह्मी स्थिति पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वास्यामन्त कालेऽपि ब्रह्म निर्वाण मृच्छति,** अर्थात् यह ब्राह्मी स्थिति है जिसे प्राप्त करने के बाद कोई मोहित नहीं होता और मृत्यु के समय भी इसी स्थिति में प्रतिष्ठित रहकर वह ब्रह्म में लीनता को प्राप्त करता है। और अब यहां कर्म योगी के लक्षणों का उपसंहार करते हुए भी इस श्लोक में भगवान वही बात कहते हैं कि सब कर्मों को ब्रह्म रूप में देखता हुआ वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि एक ही लक्ष्य सच्चिदानन्द को ज्ञान द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है और कर्म द्वारा भी।

अब तक भगवान ने जो बताया उसमें कर्म अकर्म का पूरा विवरण आ गया। कर्म किस स्थिति में अकर्म बनते हैं, कौन सा कार्यकर्ता अकर्ता यानी कर्मयोगी है यह स्पष्ट हो गया है। कर्म को अकर्म में बदलने की जो व्यवहारिक कला है उसे विकर्म कहते हैं। इसे ही दूसरे शब्दों में हम यज्ञ कह सकते हैं क्योंकि यज्ञ के बारे में बताते समय भगवान पहले ही कह चुके हैं कि यज्ञ के सिवा संसार के सब कर्म बंधन में डालने वाले हैं। तात्पर्य यह है कि जो बंधन में न डाले वही यज्ञ। ये यज्ञ कैसे-कैसे हो सकते हैं? जो कर्मयोग कर ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हुए हैं उन्होंने क्या-क्या किया कि वे लक्ष्य को प्राप्त कर सके? इन प्रश्नों का उत्तर भगवान अगले पांच श्लोक में देते हैं जिनमें उन्होंने बारह प्रकार के यज्ञों अर्थात् उन कर्मों को बताया है जो कर्म को अकर्म बनाने में सहायक होते हैं। सभी साधक ही हैं और वे सबके सब सत्य को ही चाहते हैं पर रुचि के कारण उनके रास्ते अलग-अलग हो जाते हैं और वे अलग-अलग यज्ञों के रूप में दिखाई देते हैं। भगवान कहते हैं:-

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

कुछ योगीजन भगवत् अर्पण रूप यज्ञ का ही अनुष्ठान करते हैं और दूसरे योगी लोग ब्रह्मरूप अग्नि में विचार रूप यज्ञ के द्वारा जीवात्मा रूप यज्ञ का हवन करते हैं।

श्लोक में प्रथम पंक्ति में भगवान दैवयज्ञ और दूसरी पंक्ति में ब्रह्म यज्ञ का वर्णन करते हैं। एक बार फिर स्मरण कर लें कि इन यज्ञों का अर्थ प्रचलित यज्ञ-याग नहीं है। यह शब्द तो भगवान ने अर्जुन को समझाने के लिए प्रयुक्त किया है। विद्यार्थी जिस भाषा में समझ सकें, जैसे उदाहरण से दिमाग में बात ठीक से जम सके, चतुर शिक्षक उन्हीं का प्रयोग करते हैं। यह बात योगिनः शब्द से एकदम स्पष्ट हो रही है। अग्निहोत्र करने वाले को भगवान योगी कभी नहीं कहते। यह शब्द तो निष्काम साधकों के लिए ही आता है। इस संदर्भ में दैव यज्ञ का अर्थ देवताओं की पूजा अर्चना करना बिल्कुल नहीं लिया जा सकता। दैव यज्ञ का अर्थ है भगवत् अर्पण बुद्धि के साथ कर्म करना। सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थों को अपना और अपने लिए न मानकर भगवान को समर्पित कर देना ही दैवयज्ञ है।

इस यज्ञ में किसी भी क्रिया और पदार्थ में आसक्ति, ममता और अहंता का त्याग कर देने पर भी यह सूक्ष्म अहंकार तो शेष रह ही जाता है कि मैंने यह यज्ञ किया। अतः दूसरी पंक्ति साधना का अगला चरण-ब्रह्मयज्ञ बताती है। जैसे अग्नि में समिधा डालने से समिधा भी अग्नि बन जाती है उसी प्रकार विचार-विवेक, चिंतन-मनन द्वारा अपनी जीवात्मा का हवन ब्रह्म में कर दें। यह भाव भी न रहे कि मैं करने वाला हूं वह करवाने वाला। मैं भक्त हूं, वह भगवान। परमात्म तत्व से भिन्न अपनी स्वंतत्र सत्ता को किंचित् मात्र भी न रखने वाला ही ब्रह्मज्ञ है। अपने में पहले हरि को देख पाने वाला फिर अपने आप हर में हरि को देखने लगता है।

दैव यज्ञ और ब्रह्म यज्ञ बताने के बाद अगले श्लोक में भगवान दो और यज्ञों का वर्णन करते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

अन्य योगी जन श्रोत्र आदि इन्द्रियों का संयम रूप अग्नि में हवन किया करते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादि विषयों का इन्द्रिय रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं।

हमारी पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं- कान, नाक, आंख, रसना और त्वचा। ये क्रमशः शब्द, गंध, रूप, रस और स्पर्श ग्रहण करती है जो मन में संवेग उत्पन्न करते हैं। इन्हीं के कारण राग द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं। यदि हमने आज डिस्को संगीत सुना तो शायद हमें बहुत अच्छा लगे और कल हम डिस्को क्लब की ओर चल पड़ें। हमारा भजन संत्संग छूट जाए और हम पतन की ओर उन्मुख हो जाएं अतः साधक प्रयत्नशील रहता है कि उसकी ज्ञानेद्रियां विषयों में विचरण करने न पाए। इसी को संयम कहते हैं और संयम रूपी अग्नि में इन्द्रियों की आहुति देना एक यज्ञ ही है। यह यज्ञ तो एकान्त में ही हो सकता है। संसार को त्याग कर हिमालय की कन्दराओं में निवास करने वाले योगी इस साधना द्वारा ब्रह्मात्मभाव को प्राप्त करने के लिए तपोरत होते हैं।

दूसरा यज्ञ है इंद्रियों की अग्नि में विषयों को जला देना अर्थात् विषय इंद्रियों में प्रवेश तो करे लेकिन प्रभावित न कर पाए। विषय तो इंद्रियों में प्रवेश करेंगे ही, दृश्य आंखों में प्रवेश करेंगे, सुगन्ध नाक में प्रवेश करेगी किन्तु साधारण जन तो उनके प्रति भोग का दृष्टिकोण रखते हैं किन्तु योगी उसे हवन की दृष्टि से देखने का अभ्यास करता है। विषय प्रवेश करें लेकिन भस्म हो जाएं यानि कोई राग द्वेष उत्पन्न न कर पाएं।

अब अगले श्लोक में भगवान पांचवें यज्ञ का वर्णन करते हैं:-

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

अन्य योगीजन समस्त इन्द्रिय चेष्टाओं को तथा प्राणों की क्रियाओं को आत्म संयम रूप योग की अग्नि में हवन करते हैं।

पिछले श्लोक में तो भगवान ने ज्ञानेन्द्रियों का संयम बताया जो विषयों को ग्रहण करती है और इस श्लोक में सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि और प्राणकर्माणि द्वारा कमेन्द्रियों का संयम बताते हैं। हाथ, पैर, वाणी, गुदा, उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। जब तक इस शरीर में प्राण हैं तब तक ये कार्य करती हैं अतः इनकी क्रियाओं को प्राण कर्म कह सकते हैं। यह

संन्यासियों का पथ है जिन्होंने न केवल विषय वस्तुओं के प्रति राग का त्याग किया है वरन् उनके कर्म भी अत्यंत संयमित हैं। भगवान कहते हैं कि आत्म संयम इन्द्रियों का दमन नहीं है बल्कि ज्ञान के द्वारा उनका संयमन है। इससे कुठाएं पैदा नहीं होती क्योंकि ज्ञानी को विषयों की व्यर्थता का पूरा विश्वास होता है।

जिसने धूप में चमकती सीप को चांदी समझा वह तो उस चांदी के टुकड़े को उठाने का लालच रोकने के लिए अपने आप को नियंत्रित करेगा किंतु जिसे ज्ञान है कि यह चांदी नहीं सीप है उसका संयम सहज होगा। उसकी वृत्ति उस ओर जाएगी ही नहीं कि अपनी आंखों को बार-बार उसे देखने और पैरों को उस ओर जाने से रोकने का प्रयत्न करे। इस प्रकार ज्ञान होने पर केवल ज्ञानेन्द्रियां ही नहीं, कर्मेन्द्रियां भी अपने आप संयमित हो जाती हैं।

अगले श्लोक में भगवान पांच अन्य यज्ञों के बारे में कहते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

दूसरे कठोर व्रत वाले लोगों में कोई द्रव्ययज्ञ के करने वाले, कोई तपरूप यज्ञ के करने वाले, कोई योग रूप यज्ञ के करने वाले, कोई स्वाध्याय और ज्ञानरूप यज्ञ करने वाले होते हैं।

द्रव्य यज्ञः- द्रव्य का अर्थ है-धन सम्पत्ति। भक्ति और प्रेम की भावना से ईमानदारी के साथ कमाए धन का दान द्रव्ययज्ञ है। लेकिन व्यापक रूप में द्रव्य के अर्थ में उन सभी को सम्मिलित करना चाहिए जो हमारे पास है और दूसरों को दिया जा सकता है। रोगी को दवा देना, प्यासे को पानी पिलाना, भूखे को अन्न देना आदि तो द्रव्य यज्ञ है ही, किसी दुखी प्राणी के धधकते हृदय को प्रेम के मीठे बोलों से शांति पहुंचाना, किसी को सही सलाह देकर उसके हित के लिए प्रयत्न करना भी द्रव्य यज्ञ है। इनके लिए हमारे हृदय में इतनी करुणा होनी चाहिए कि हम अपनी शक्ति और समय का व्यय कर सकें। आजकल कितनों के पास रहा है यह? बेईमानी

से कमाए गए पैसे को नाम कमाने के लिए या किसी से पिंड छुड़ाने के लिए कुछ दे दें तो वह द्रव्य यज्ञ नहीं होता।

तपोयज्ञः- कुछ साधकों को तपोयज्ञ में रुचि होती हैं वे शारीरिक कष्ट सहते हैं, उपवास आदि रखते हैं। उनकी रुचि नाम, बड़ाई, प्रसिद्धि में न हो तो यह सब तप भी यज्ञ हो जाता है। इससे आत्म संयम आता है जो योग प्राप्ति में सहायक होता है।

योग यज्ञः- कुछ साधक योगानुष्ठान में रुचि रखते हैं। यहां योग यज्ञ का अर्थ यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि अष्टांग योग नहीं हैं, क्योंकि इनका अलग-अलग वर्णन भगवान कर ही रहे हैं। जब हम अपने जीवन की निकृष्टता को त्याग कर उत्कृष्टता को अपनाने का प्रयत्न करते हैं तो वे सब साधनाएं योग हैं। भजन, पूजन, उपासना आदि सभी योग हैं, क्योंकि इनसे मन की निर्मलता आती है।

स्वाध्याय यज्ञः- स्वाध्याय का अर्थ है- शास्त्रों का अध्ययन। साधक पहले तो गुरु के मुख से सुनकर या पुस्तकों में पढ़कर जानता है और फिर स्वयं चिन्तन मनन कर उन्हें समझने का प्रयास करता है। यह कार्य भगवान के मतानुसार यज्ञ ही है।

ज्ञान यज्ञः- शास्त्रों के श्रवण, पठन के बाद चिंतन मनन द्वारा जो हम धारणा करते हैं वह ज्ञान है। जब यह सम्यक् ज्ञान नहीं होता हम मिथ्या भ्रम और अहंकार में पड़े रहते हैं- मैं मिल मालिक हूं, मैं मिनिस्टर हूं, मैं दानी हूं, मैंने यह किया, मैंने वह किया इत्यादि। लेकिन ज्ञान होने के बाद भावनाएं बदल जाती हैं। तब समझ में आता है कि सबकुछ करने वाला तो भगवान है, मैं उसके हाथों की काठपुतली मात्र हूं। मेरे पास जो सत्ता-शक्ति है वह भी उसी की है, जो कर्मशक्ति है, वह भी उसी की है, अतः इच्छा-शक्ति भी उसी की है, मेरी नहीं। वह कह उठता है-'हे प्रभु, वही हो जो तुम चाहते हो।' उसकी चाह, उसकी कामनाएं, उसकी वासनाएं अर्थात् उसका पूरा अज्ञान इस ज्ञान में हवन हो जाता है।

भगवान कहते हैं कि इन यज्ञों के द्वारा साधना करने वाले संशितव्रता यति हैं अर्थात् वे अपने व्रत में दृढ़ होते हैं और यत्नशील हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्रणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

दूसरे कितने ही प्राणायाम के परायण हुए योगी लोग अपान में प्राण का पूरक करके, प्राण और अपान की गति को रोककर फिर प्राण में अपान का हवन करते हैं।

यहां भगवान ग्यारहवें प्रकार का यज्ञ बता रहे हैं जो प्राणायाम कहलाता है। प्रत्येक प्राणी में प्राणवायु गतिशील है पर ये साधक उस प्राणवायु को अपनी इच्छानुसार चलाना चाहते हैं। जिस उपाय से प्राणवायु नियंत्रण में आती है उसे प्राणायाम कहते हैं।

योगशास्त्र में बाहर की वायु को भीतर लाना प्राण कहा गया है और भीतर की वायु को बाहर निकालना अपान। योगी लोग पहले बाहर की वायु को बायीं नसिका से अन्दर ले जाते हैं। इसे पूरक कहते हैं। इसमें प्राणवायु अपान में लीन हो जाती है। फिर वे प्राण और अपान दोनों की गति रोक देते हैं। न श्वास बाहर जाता है न भीतर आता है। इसे कुम्भक कहा जाता है। इसके बाद भीतर की अपान वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाला जाता है। इसे रेचक कहते हैं। इस प्रकार बार-बार पूरक-कुम्भक-रेचक करना प्राणायाम है।

व्यापक रूप में प्राणायाम का अर्थ केवल श्वास का निरोध नहीं लिया जाना चाहिए। वेदान्त में प्राण के पांच विभाग किये गये हैं- प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। ये पांचों हमारी विभिन्न प्रणालियां हैं जिनके द्वारा ग्रहण किया गया भोजन पचता है, अनावश्यक पदार्थ बाहर निकलते हैं, पचाया गया भोजन शरीर के विभिन्न अंगों में वितरित होता है और हम विचार करते हैं। साधारण अवस्था में इन प्रणालियों के प्रति हम अनभिज्ञ होते हैं और ये अनियंत्रित होती हैं। प्राणायाम का अर्थ शरीर की समस्त क्रियाओं को नियंत्रित करना माना जाना चाहिए।

अगले श्लोक में बारहवें प्रकार के यज्ञ का वर्णन करते हुए भगवान इस प्रसंग का उपसंहार करते हैं।

अपरे नियताहाराः प्रणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।३०।।

संतुलित आहार करने वाले कुछ अन्य लोग प्राणों का प्राणों में हवन करते हैं। ये सब लोग भी यज्ञों को जानने वाले हैं जिनके पाप यज्ञों द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं।

कुछ योगीजन आहार नियंत्रित कर अपनी भोगवृत्ति पर काबू पाते हैं। यहां आहार का अर्थ केवल भोजन नहीं लेना चाहिए। दिनभर में केवल एक केला खाकर सात काले तिल के दाने खाकर रहने वाले को लोग महायोगी कह भले ही लें, नियत आहार का अर्थ बहुत कम खाना या कोई विशेष वस्तु ही खाना नहीं होता। आहार तो संतुलित होना चाहिए जिससे शरीर के विभिन्न अंगों को पुष्टि मिले। भगवान ने तो छठे अध्याय में स्पष्ट कहा है कि युक्त आहार-विहार करने वाले ही योग को प्राप्त कर सकते हैं।

हमारी प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियां आंख, नाक, कान, रसना और त्वचा अपना-अपना आहार ग्रहण करती है। आंखें अपने फेवरेट हीरो को देखने को व्याकुल रहती हैं। नाक पेरिस के परफ्यूम का आहार करना चाहती है। कान पॉप संगीत सुनना चाहते हैं, रसना को गोलगप्पे चाहिए और त्वचा को मुलायम रेशमी वस्त्र। इन सभी आहारों को नियत करना ही बारहवें प्रकार का यज्ञ है जिसकी चर्चा भगवान यहां कर रहे हैं। भगवान कहते हैं कि इन यज्ञों का अनुष्ठान करने से सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं और अविनाशी परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

इस अध्याय में भगवान् ने कहा था, 'अर्जुन, मैं तुम्हें कर्म, अकर्म और विकर्म बताऊंगा। ये बारह प्रकार के यज्ञ वास्तव में विकर्म हैं जिसके द्वारा कर्म को अकर्म में बदला जा सकता है। अपने जीव भाव का, अपने अहंकार का त्याग करो तब तुम्हें परमात्म तत्व की प्राप्ति होगी, यह बार-बार कहने पर भी जब समझ नहीं आ रहा था तो भगवान को ऐसी भाषा का सहारा लेना पड़ा जो अर्जुन के लिए जानी पहचानी हुई थी। यज्ञ करते समय अग्नि में आहुति दी जाती है। तब आहुति की पृथक सत्ता नहीं रह

जाती है, वह अग्नि के साथ एकाकार हो जाती है इसी प्रकार इन यज्ञों को करने वाले की समस्त वस्तुओं, कामनाओं और क्रियाओं का विलय एक ही परमात्म तत्व में हो जाता है।

हर व्यक्ति सोचता है मुझे कुछ न कुछ मिलता रहे, मैं कुछ न कुछ करता रहूं। यह पाने की कामना और करने का वेग है। जब तक पाने की कामना रहेगी तब तक करने का वेग बना रहेगा और तब तक जन्म मरण छूट नहीं सकता। शरीर धारण करने के बाद कुछ न करना संभव भी नहीं है तब क्या करें? कर्म करें पर ममत्व का त्याग, स्वयं के लिए कुछ पाने की कामना न रख जन हिताय करें तो वह क्रिया विकर्म या यज्ञ है जो हमें अकर्म की अर्थात् ऐसी अवस्था में पहुंचा देती है जहां संसार के सभी बंधन छूट जाते हैं और हम असंग होकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

अब अगले श्लोक में भगवान इन यज्ञों की महिमा गाते हैं:-

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञों के अवशिष्ट रूप अमृत को ग्रहण करने वाले सनातन परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञ न करने वाले पुरुष के लिए यह मनुष्य लोक ही नहीं है फिर परलोक कैसे हो।

अर्जुन तो अभी तक द्रव्य यज्ञ ही जानता था जिसमें अग्नि जलाकर विभिन्न द्रव्यों की आहुति दी जाती थी और यज्ञ की समाप्ति के बाद पात्र में जो हविष्यान्न बचता था उसे यज्ञकर्ता अमृत मानकर अत्यन्त श्रद्धा भाव से ग्रहण करता था। ऐसी मान्यता थी कि उस प्रसाद को ग्रहण करने वाले को स्वर्गलोक की प्राप्ति होगी। स्वर्गलोक यानी वह स्थिति जहां भोग और ऐश्वर्य का चरम सुख उपलब्ध है। किन्तु यह स्थायी नहीं होता। देवराज इन्द्र तक को हर वक्त अपनी कुर्सी खिसक जाने का भय लगा रहता है।

यहां तो भगवान ने अनेक यज्ञ बता दिए हैं जिनके लिए किसी बाहरी द्रव्य की आवश्यकता नहीं होती। ये सारी अंतरंग साधनाएं हैं जिन्हें

भगवान ने यज्ञ का नाम दे दिया है। अर्जुन रोमांचित हो उठा होगा और इस रूपक को पूर्णता से समझना चाहता होगा। उसे उत्सुकता होगी कि जब इन यज्ञों में कोई द्रव्य होता ही नहीं तो प्रसाद कैसा होता होगा?

भगवान कहते हैं कि प्रसाद के रूप में इन यज्ञकर्त्ताओं को सनातन ब्रह्म की प्राप्ति होती है। ब्रह्म का अर्थ है परम आनंद और इसके साथ सनातन शब्द जोड़ कर भगवान एकदम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह साधारण यज्ञ प्रसाद की भांति अस्थायी उपलब्धि नहीं है। वास्तव में हम सभी ब्रह्म अर्थात् उस स्थिति को प्राप्त करना चाहते जहां सुख ही सुख, आनंद ही आनंद हो लेकिन अज्ञानतावश फिटकरी को मिश्री समझ लेते हैं और उसकी कड़वाहट से परेशान होते रहते हैं। हम जितना भी धन संचित करते हैं, भोग सामग्री जुटाते हैं, दूसरों को धोखा देते हैं, लूटते-खसोटते या शोषण करते हैं वह इसलिए नहीं कि हम वास्तव में दूसरों को दु:ख देना चाहते हैं वरन् इसलिए कि हम स्वयं सुख भोगना चाहते हैं और हमें लगता है कि ऐसा करने से हमें सुख मिल जायेगा। संसार के अरबों लोग अपने-अपने स्तर पर यही कर रहे हैं लेकिन आज तक एक को भी भोग से तृप्त होकर सुख मानते नहीं पाया गया। फिर भी आश्चर्य है कि सुख की खोज की दिशा बदलने का विचार हमें आता नहीं।

भगवान कहते हैं कि ये यज्ञ (द्रव्य यज्ञ भी यदि अहंता, ममता स्वार्थ और कामना को त्याग कर किया जाए) तो स्थाई सुख देने वाले हैं। इन यज्ञों के प्रसाद स्वरूप हमें आत्मसंतोष और समत्व की प्राप्ति होती है। और जो ऐसा नहीं करते उन्हें परलोक तो क्या इस लोक में भी सुख नहीं मिलता जो हम रोज देखते हैं लेकिन फिर भी अंधे बने हुए हैं। जो अपने ही स्वार्थ में रत रहता है उसके परिवार के लोग भी उसका आदर नहीं करते। जो अपने यानी अपने परिवार के स्वार्थ के लिए ही कार्य करता है उसकी समाज के लोग कैसी इज्जत करते हैं यह किससे छुपा है? जिसका इहलोक ही बिगड़ गया उसका परलोक क्या सुधरेगा?

भगवान ने अर्जुन को कर्मों का तत्व बताने की प्रतिज्ञा की थी और उसी क्रम में यह सब उपदेश दे रहे थे। अब इसका उपसंहार करते हुए कहते हैं-

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

इस प्रकार के और बहुत से यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार से कहे गए हैं। उन सब को तू कर्म से उत्पन्न हुआ जान। इस प्रकार जानकर (उनके अनुष्ठान द्वारा तू कर्मबंधन से) सर्वथा मुक्त हो जाएगा।

यहां एक बार फिर कर्म के प्रति भगवान श्रीकृष्ण का आत्यन्तिक आग्रह मुखर हो उठा है। वेदों को ब्रह्मा के मुख से निकली वाणी माना गया है अत: इस श्लोक में प्रयुक्त 'ब्रह्मणो मुखे' से तात्पर्य ही वेद ही है जिनमें इन यज्ञों के अलावा और अनेक प्रकार की अन्तरंग साधनाएं बताई गई है। भगवान कहते हैं- 'हे अर्जुन! अच्छी तरह जान लो कि ये सब यज्ञ कर्म के द्वारा ही संभव हो सकते हैं।'

इसके साथ ही भगवान यह भी जोड़ देते हैं कि ऐसा जानकर तुम मुक्त हो जाओगे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्म किए बिना कोई चारा नहीं है। सांसारिक उपलब्धि पानी हो या आत्मशुद्धि, कर्म तो हमें करना ही होगा। सांसारिक उपलब्धि स्वार्थपूर्ण कर्म के द्वारा प्राप्त की जा सकती है और वह सनातन सुख देने में असमर्थ है। चुनाव हमारे ऊपर है।

भगवान ने अर्जुन को जब विभिन्न प्रकार से इतने यज्ञ बताए तो अर्जुन के मन में निश्चित रूप से आया होगा कि इनमें सर्वश्रेष्ठ कौन सा है? जो आलसी होते हैं वे यह जानना चाहते हैं कि सबसे आसान तरीका क्या है और अर्जुन जैसा जुझारू व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ को जानना चाहेगा। भगवान कहते हैं-

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ: परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

हे परंतप! द्रव्यों से होने वाले यज्ञ से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि सारे कर्म नि:शेष रूप से ज्ञान में ही पराकाष्ठा को प्राप्त होते हैं।

द्रव्य यज्ञ में द्रव्यों की प्रधानता होती है। अग्नि में आहुति देकर करने वाले हवन के अलावा दान देना, कुआं, धर्मशाला, अस्पताल आदि बनवा देना भी द्रव्य यज्ञ है। यह श्रेष्ठ तो है ही, भगवान ने पहले ही कहा है कि सभी यज्ञ स्थाई सुख देने वाले अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाले हैं किंतु यहां सर्वश्रेष्ठ वे ज्ञान को ही बता रहे हैं। ज्ञान की अग्नि में अज्ञान की आहुति देने को धन-सम्पत्ति के दान से अधिक श्रेष्ठ बताने के कई कारण हैं।

यज्ञ अपने आप में साध्य या लक्ष्य नहीं है। यह तो साधन है जिसके द्वारा जीव अपने अहंकार को त्याग कर परमात्म तत्व के साथ एकरूपता की अनुभूति कर सके। इसके लिए वासनाओं का क्षय करना आवश्यक है। विभिन्न यज्ञ कर्मों के द्वारा हमारी लालसा, ममत्व, मोह, राग आदि क्षीण होते हैं। हम किसी को द्रव्य देंगे तो निश्चित रूप से द्रव्य के प्रति हमारा राग, ममत्व कम हुआ है लेकिन सभी यज्ञों में एक बात यह आ जाती है कि ममता तो कम हो जाती है पर अहंता बढ़ने का अंदेशा रहता है। एक रुपया किसी को देते ही हम आत्ममुग्ध होने लगते हैं कि हमने कितना अच्छा कार्य किया, हम कितने उदार हैं। द्रव्य यज्ञ करके भी अहंकार न आए इसके लिए बहुत परिश्रम और जागरुकता की आवश्यकता होती है। द्रव्य यज्ञ के लिए अपने में सम्पत्ति की सामर्थ्य और योग्यताएं भी होनी आवश्यक है।

ज्ञान यज्ञ के लिए किसी भौतिक सामर्थ्य की आवश्यकता नहीं है और यह अहंकार पर सीधी चोट कर उसे निर्मूल करता है। जिन्हें ज्ञान का अभिमान होता है वह तो ज्ञानी है ही नहीं। जब यह ज्ञान हो जाए कि सारी जड़ चेतन सृष्टि में व्याप्त होकर समस्त कर्म कराने वाला एक ही परमात्मा है और मैं तो उसका तुच्छ यंत्र मात्र हूं तो अहंकार भला कैसा? उदार सेठ का कर्मचारी यदि भूखों को भोजन बांटे तो उसे यह संतोष तो हो सकता है कि भगवान की बड़ी कृपा है मुझ पर कि मुझे भी इस सेवा कार्य में कुछ योगदान करने का अवसर मिला पर 'मैंने भोजन दिया' का अभिमान भला उसे क्योंकर होगा? इस प्रकार उसके द्वारा भोजन वितरित करने का जो कर्म हुआ वह उसके चित्त में वासना का मल एकत्र नहीं कर पाएगा,

उसकी समाप्ति इस ज्ञान में ही हो जाएगी कि वास्तविक दाता तो सेठ जी हैं, मैं तो हूं ही क्या?

जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु की विशेष प्रशंसा करता है तो स्वाभाविक ही सुनने वाले के मन में ललक उठती है कि इसे पाया कैसे जाए। अर्जुन के मन की इस इच्छा को पहचान कर भगवान कहते हैं-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

उस (ज्ञान) को तू तत्वदर्शी ज्ञानियों को दण्डवत् प्रणाम करके, उनकी सेवा करके और उनसे प्रश्न करके जान लें। वे तत्वदर्शी ज्ञानी तब तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे।

इस श्लोक को पढ़ने से ऐसा लगता है कि गुरु तो बहुत प्रशंसा पसन्द होते हैं, उन्हें तो सेवा कराना अच्छा लगता है। जो भूमि पर लेट-लेट कर उन्हें प्रणाम करता है, उनके पैर दबाता है उसी से वह खुश होते हैं और उसी को उपदेश देते हैं, दूसरों को नहीं। ऐसी बात नहीं है। इस श्लोक का एक-एक शब्द गूढ़ है। इन्हें अच्छी तरह समझना चाहिए।

पहली बात तो यह कि भगवान ने गुरु के लिए तत्वदर्शी ज्ञानी शब्द का व्यवहार किया है। गुरु केवल ज्ञानी ही नहीं, उसने साधना के द्वारा उस ज्ञान की प्रत्यक्ष अनुभूति भी की हो। एक महात्मा और एक दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर में बहुत बड़ा अन्तर होता है। प्रोफेसर साहब को धर्म की सूक्ष्म बातों का ज्ञान बहुत होता है, वे एक नहीं, संसार में प्रचलित सभी धर्मों के विषय में जानकारी रखते हैं लेकिन वे स्वयं उन मूल्यों को जीवन में उतारने के लिए साधना नहीं करते अतः उनसे हमें जानकारी मिल सकती है लेकिन वह ज्ञान नहीं मिल सकता जो हमारी वासनाओं के कलुष को धो डाले और हमारे हृदय को निर्मल बना दे।

दूसरी और कुछ महात्मा ऐसे भी हैं जो दिन रात भजन में या आत्मानन्द में मग्न रहते हैं। ऐसे आत्माराम महापुरुष दूसरों को उपदेश देकर राह नहीं दिखा पाते। वे स्वयं सिद्ध होते हैं पर साधारण साधक की जिज्ञासा

को दूर कैसे किया जाए यह नहीं जानते अत: गुरु को ज्ञानी भी होना चाहिए और तत्वदर्शी भी तभी वह शिष्य के अज्ञान को ज्ञानाग्नि में भस्म करवा सकता है।

शिष्य के विषय में भगवान बताते हैं कि वह प्रणिपात, सेवा और प्ररिप्रश्न करे। ये तीनों शब्द क्रिया के सूचक हैं। गुरु को भला इनसे क्या अन्तर पड़ने वाला है कि कौन कितना झुकता है। यदि इन छोटी-छोटी बातों से प्रभावित होता है तो उसे भला तत्वदर्शी कहा जाएगा? गुरु तो अपने सामने उपस्थित सभी लोगों से एक ही बात कहते हैं पर कौन कितना सुन पाता है, समझ पाता है और जीवन में उतार पाता है यह तो सुनने वालों की विभिन्न योग्यताओं पर निर्भर करता है। गंगा अथाह जल राशि के साथ निरंतर बहती रहती है पर हम खाली हाथ आते हैं या लोटा लेकर अथवा बाल्टी लेकर, जल तो हमें अपनी योग्यता, अपने परिश्रम के अनुसार मिलेगा।

हमें यदि भौतिक शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना है तो शिक्षक की आवश्यक योग्यता यही है कि उसे विषय का अच्छा ज्ञान हो और शिष्य के लिए यही आवश्यक है कि उसके पास यथेष्ट धन हो तथा विषय के प्रति जिज्ञासा हो। इनके अलावा गुरु-शिष्य अपने-अपने व्यक्तिगत जीवन में कैसे हैं, उनकी आदतें कैसी है, उनका चरित्र कैसा है इन सब बातों का भौतिक शास्त्र के ज्ञान के आदान-प्रदान में कुछ मतलब नहीं। लेकिन अध्यात्म ज्ञान के क्षेत्र में ऐसा नहीं है। इस सूक्ष्म विज्ञान को जानने के लिए कुछ चारित्रिक गुणों की आवश्यकता है। इसके बिना ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। यदि हो पाती तो भगवान कह ही देते कि पुस्तक पढ़कर जान लें।

प्रणिपात भूमि पर लेट कर प्रणाम करने की क्रिया को कहते हैं पर वास्तव में वह अहंकार के त्याग और गुरु के प्रति श्रद्धा तथा समर्पण की भावना का प्रतीक है। अध्यात्म शास्त्र ऐसा सूक्ष्म विज्ञान है कि हर बात की जांच प्रयोगशाला में नहीं की जा सकती और हम यदि कहें कि जो हमें दिखाई नहीं देती ऐसी किसी भी बात को हम मानेंगे ही तो हमारी क्लास चलेगी नहीं। जिसे भी परीक्षण द्वारा जांचा नहीं जा सकता उसे समझने के लिए गुरु में श्रद्धा चाहिए। साधारण ज्ञान ही ले लें। यदि दूसरी कक्षा के

विद्यार्थी को उसका सहपाठी बताए कि वर्षा में बरसने वाला जल समुद्र का ही है तो वह नहीं मानेगा लेकिन शिक्षक कहे तो मान लेगा क्योंकि सहपाठी को तो वह गप्पी समझता है पर शिक्षक में उसकी श्रद्धा है। अध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रद्धा का महत्व सबसे अधिक है। इसी के साथ ही जब तक शिष्य अपने अहंकार का त्याग कर पूरी तरह गुरु के प्रति समर्पित नहीं हो जाता तब तक ज्ञान का आदान-प्रदान व्यर्थ है। इसीलिए वर्षों साथ-साथ रहने पर भी श्रीकृष्ण गीता का उपदेश तभी देते हैं तब अर्जुन कातर होकर कहता है- 'मैं आपका शिष्य हूं, मुझे बताइए कि मेरा कल्याण किसमें है।'

परिप्रश्न जिज्ञासा का प्रतीक है। कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति के बारे में हमारा यह विचार होता है कि ये बड़े अच्छे महात्मा हैं, बड़े ज्ञानी हैं, हम उनसे मिलते हैं तो बड़े आदर के साथ उन्हें प्रणाम करते हैं लेकिन ज्ञान के प्रति जिज्ञासा नहीं होती। हम प्रवचन सुनना नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में ज्ञान का आदान-प्रदान संभव नहीं। इसीलिए आत्माराम संत बहुत कम बोलते हैं। जैसे नया-नया कवि जो मिले उसे पकड़ कर अपनी कविताएं सुनाने लगता है वैसे वे लोग नहीं करते। वे तो तभी कहते हैं जब कोई जिज्ञासा प्रस्तुत करता है।

सेवा का अर्थ भी गुरु के चरण दबाना या पादुका पूजन नहीं। गुरु ने जो उपदेश दिया उसके अनुसार आचरण करना ही सेवा है। जैसे दवा के प्रेस्क्रिप्शन को पढ़ने से नहीं वरन् सेवन करने से रोग की निवृत्ति होती है उसी प्रकार अज्ञान की निवृत्ति भी ज्ञान सुनने से नहीं बल्कि उसके सेवन अर्थात् आचरण से होती है।

अगले कुछ श्लोकों में भगवान बता रहे हैं कि इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर लेने से लाभ क्या होगा-

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

हे अर्जुन, जिसको जानकर फिर से तू इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होगा तथा जिसके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतों को अपने में और फिर मुझमें देखेगा।

सांसारिक ज्ञान हम कितना ही क्यों न प्राप्त कर लें इससे मोह से बच नहीं सकते। अर्जुन ने क्या कम उपलब्धियां प्राप्त की थी कि धनंजय (धन लाने वाला), परंतप (जिससे शत्रु कांपते हैं), सव्य साची (जो बांए हाथ से भी धनुष चला सकता है) और गुडाकेश (जिसने निद्रा को जीत लिया है) आदि नामों से उसे विभूषित किया गया। किन्तु जब तक अपने और समस्त सृष्टि के सत्य स्वरूप का ज्ञान न हो तब तक मैं और मेरे की भावना जा नहीं सकती। तब तक मैं और मेरे का भाव रहेगा तब तक मोह होगा ही। **मैं** गुरु द्रोण का शिष्य हूं, **मैं** भीष्म का पौत्र हूं, **मैं** द्रौपदी का पति हूं, **मैं** कुन्ती का पुत्र हूं, **मैं** पाण्डव कुमार अर्जुन हूं, युद्ध करने से **मेरी** जय या पराजय होगी, **मेरे** सगे-सम्बंधी मारे जाएंगे, **मेरे** कुल की स्त्रियां विधवा होकर दूषित हो जाएंगी, सारा पाप **मेरे** सिर चढ़ेगा, युद्ध न करना ही **मेरे** लिए ठीक रहेगा, लेकिन **मैं** क्षत्रिय हूं, अत्याचार से लड़ना **मेरा** धर्म है, लेकिन सामने **मेरे** पितामह हैं ..... हर वाक्य में मैं और मेरा जुड़ा हुआ है। यही हमें मोहित कर नाच नचाता है और दुखी करता है। मैं और मेरे के स्थान पर तू और तेरे का ज्ञान हो जाए। हरि तुम ही हो, हर प्राणी में, संसार में जो कुछ भी मुझे दिखलाई दे रहा है वह सब तेरा है, मैं भी तेरा ही हूं। भगवान कहते हैं कि अध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति के बाद ऐसी ही दृष्टि आ जाती है और जिस मोह में तुम अभी पड़े हुए हो यह नहीं रह जाता।

सबमें एक ही परमात्मा दिखाई देने की बात सुनकर हम भले ही हां-हां कर लें या तर्क करके बात काटने को तैयार हो जाएं, सच बात तो यह है कि बात हमारे समझ में आती नहीं। इसमें दोष न समझाने वाले का है न समझने वाले का। हर बात हर किसी की समझ में आ नहीं सकती। एक पांच वर्षीय लड़की कितनी ही समझदार क्यों न हो, उसकी मां यदि उसे बताना चाहेगी कि मातृ सुख क्या है, बच्चे को दूध पिलाते समय मां को कैसी अनुभूति होती है, तो वह कभी नहीं समझ पाएगी। जब वह बड़ी होगी, उसमें सयानापन आएगा तभी धीरे-धीरे अपनी मां की बातों का कुछ-कुछ अर्थ समझ में आएगा और वास्तविक ज्ञान तो उसे स्वयं मां बनने पर ही होगा।

हममें भी इसी 'सयानेपन' का अभाव है। हम रात-दिन संसार के जंजालों में फंसे, मैं और मेरे के चक्कर में उलझे गृहस्थ भला इन बातों को

एकाएक कैसे समझेंगे। लेकिन इन्हें तर्क द्वारा जानने का प्रयत्न करने की कोशिश करना निरी मूर्खता होगी। ध्यान रखें कि ऐसी बातें ऐसे ऋषि और महात्मा कहते हैं जिन्हें संसार की किसी वस्तु, किसी पद, किसी प्रकार की मान-बड़ाई प्रतिष्ठा की कोई चाह नहीं। वे भला झूठ क्यों कहेंगे। और ऐसे तत्व ज्ञानी महात्मा सभी ऐसी ही, एक ही, बात कह रहे हैं तो जरूर सच होगी। हम इसका अनुभव कर पाने की पात्रता पैदा करें अपने आप में। संसार की ओर से दृष्टि हटाकर उसकी ओर लगाएं, स्वार्थ के लिए लड़ना छोड़ निस्वार्थ सेवा करें, अधिक से अधिक ले पाने के स्थान पर अधिक से अधिक दे पाने का प्रयास करें तो चित्त जैसे-जैसे निर्मल होगा ये बातें कुछ-कुछ समझ में आने लगेंगी।

ज्ञान की महत्ता बताने के लिए भगवान आगे और कहते हैं-

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।३६।।

यदि तुम सारे पापियों से भी अधिक पाप करने वाले हो तो भी ज्ञान रूपी नौका द्वारा निस्सन्देह समस्त पापों को अच्छी तरह पार कर जाओगे।

भगवान ज्ञान के विषय में इतनी बातें बता रहे हैं, कौन है इस ज्ञान को पाने की योग्यता रखने वाला? जिसने एक लाख गायत्री मंत्र जपा हो? जिसने कमसे कम पांच कुएं खुदवाए हो? जिसने राजसूय यज्ञ किया हो? जो लगातार आठ घंटे निश्चल बैठ सकता हो? जो जीवन भर सत्य अहिंसा और परोपकार के पथ पर चलता रहा हो?

भगवान कहते हैं कि मुझे तुम्हारे अतीत से कोई लेना-देना नहीं कि तुम सर्वोत्तम समाज सेवी हो या सर्वोत्तम पापी। अध्यात्म ज्ञान को पाने की पात्रता सब में है। यह सत्य है कि परम ज्ञान की प्राप्ति पाप अर्थात् वासना का कलुष निःशेष हो जाने पर ही होगी पर इस राह पर चलने का अधिकारी हर व्यक्ति है।

बहुत से ऐसे व्यक्ति होते हैं जो भले सार्वजनिक रूप से अकड़ कर रहते हैं, मन में जानते हैं कि मैं माफिया सरदार हूं और मैंने ऐसे कुकर्म

किये हैं कि मेरा उद्धार तो हो ही नहीं सकता। वे तो महात्माओं के पास भी जाने से कतराते हैं। लेकिन भगवान यहां उन्हें आवश्सन दे रहे हैं, 'डरो नहीं' तुम्हारे पाप का सागर कितना ही गहरा क्यों न हो ज्ञान रूपी नौका तुम्हें इसके पार उतार देने में समर्थ है। अपने और परमात्मा के बीच उमड़ते हुए सागर को देखकर घबराओ नहीं, ज्ञान तुम्हारे सारे पापों को दूर कर देगा। कैसे? यह भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

हे अर्जुन जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि इंधनों को जला कर भस्म कर देती है वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्मीभूत कर देती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवत्रिमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है। उस (ज्ञान) को योग सिद्ध पुरुष समय आने पर स्वयं आत्मा में पा लेता है।

इन दोनों श्लोक में भगवान ने ज्ञान की स्तुति करते हुए उसकी उपमा अग्नि के साथ की है। धधकती हुई आग में लकड़ी, डाल, पत्ते, कुछ भी डालें, सभी भस्मीभूत हो जाता है। इसी प्रकार की ज्ञान अग्नि जहां ज्योतिर्मान हुई, सत्कर्म हो या दुष्कर्म, सभी समाप्त हो जाते हैं। अग्नि सबको भस्मसात् ही नहीं करती पवित्र भी करती है। चंदन की लकड़ी हो या संक्रामक रोग से ग्रस्त व्यक्ति के दूषित वस्त्र, अग्नि का स्पर्श पाने के पश्चात् सारा प्रदूषण समाप्त हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान की अग्नि शुभ-अशुभ का विचार किए बिना सभी कर्मों को भस्मसात् कर देती है। वास्तव में ज्ञान है कर्तापन को समाप्त कर देने की साधना का नाम। जहां कर्ताभाव खत्म हुआ वहीं सभी कर्मों के फल विलीन हुए। किसी के अतीत के संचित पाप कर्म कितने भी क्यों न हो, सबका फल नष्ट हो जाता है

कोई वर्तमान में कितना भी परोपकार क्यों न कर रहा हो, उसके फल स्वरूप कोई अहंकार या कामना पैदा नहीं होती। केवल प्रारब्ध कर्म बच जाते हैं जिनका क्षय भोग से ही होता है।

क्या ऐसा ज्ञान चट् से मिल जाता है? क्या यह किसी के देने से मिलता है? क्या कहीं बाहर से आता है? भगवान कहते हैं कि यह ज्ञान समय आने पर मिलता है, किसी के देने से नहीं बल्कि अपने आप मिलता है और कहीं बाहर से नहीं आता बल्कि साधक उसे अपने भीतर अनुभव करता है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान प्राप्ति के लिए स्वयं निरंतर साधना करनी पड़ती है। इस श्लोक में हमारे लिए यह भी संदेश है कि यदि कोई साधु कहे- 'बच्चा, यहां आओ, हम तुम्हें सभी पापों से मुक्त करा देंगे, देखो यह विभूति खा लो, तुम्हें तुरंत भगवान के दर्शन हो जाएंगे,' तो ऐसे साधुओं से दूर ही रहें। आत्म ज्ञान का, परमात्म दर्शन का कोई शार्ट-कट नहीं है। कर्म के बंधन से छूटने के लिए स्वयं कर्म अर्थात् साधना करनी पड़ती है।

इसी साधना के लिए कुछ अंतरंग साधनों की आवश्यकता होती है जिसका वर्णन भगवान अगले श्लोक में करते हैं।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

श्रद्धावान, लगनशील और जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान की उपलब्धि करता है। ज्ञान पाकर वह तत्काल परम शांति को प्राप्त कर जाता है।

पहले चौतीसवें श्लोक में प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया कह कर भगवान ने ज्ञान प्राप्ति के बहिरंग साधन बताए अर्थात् यह समझाया कि बाह्य रूप से हमें क्या करना चाहिए कि तत्वदर्शी ज्ञानी महात्मा हमें ज्ञान दें। यहां वे अन्तरंग साधन बता रहे हैं जो हमें अपने में पैदा करने हैं।

हम जो कुछ भी बाहरी या भीतरी क्रियाएं करते हैं उनके लिए हमारे पास तीन ही उपकरण हैं- शरीर, मन और बुद्धि। ज्ञान प्राप्त करने के

लिए हमें इन तीनों की ट्यूनिंग करनी होगी तभी उसे ग्रहण करने की पात्रता आएगी।

सबसे आवश्यक है श्रद्धा जो मन की ट्यूनिंग है। श्रद्धा शब्द का प्रयोग पहले भी किया गया है। आइये इसे विस्तृत रूप में समझ लें। श्रद्धा का अर्थ विश्वास नहीं। विश्वास तो बिना किसी आधार के किसी पर भी हो सकता है और वह एक क्षण में टूट भी सकता है। हमारे पास कोई मासूम चेहरा बना कर आए और हमें विश्वास हो जाए कि वह बड़ा जरूरतमंद और तकलीफ में है। अब इस विश्वास का कोई आधार तो है नहीं, हमने पहले कभी उसे देखा भी नहीं था। ऐसा व्यक्ति यदि हमें ठग कर हजार रुपया ले ले और वादे के अनुसार दूसरे दिन लौटाने नहीं आए तो हमारा विश्वास उसके ऊपर से तो क्या, दुनिया के तमाम लोगों पर से उठ जाएगा और हम आगे से किसी की सहायता न करने की कसम खा लेंगे। लेकिन यदि हमारा अत्यन्त अभिन्न मित्र, जिसने सदा हमारा साथ निभाया है, अगले दिन लौटाने की की कह कर हजार रुपये ले जाए और अगले दिन न आए तो हम उसे धोखेबाज कह कर गाली नहीं देंगे वरन् चिंता में पड़ जाएंगे कि ऐसी क्या तकलीफ आ पड़ी उस पर कि वह आया नहीं। संभवत: हम और रुपये लेकर स्वयं उसके घर की ओर चल पड़ेंगे। यह श्रद्धा है जिसके मूल में अन्धापन नहीं बल्कि ज्ञान है कि वह व्यक्ति सज्जन है धोखेबाज नहीं। श्रद्धा चोट खाकर टूटती नहीं, परिपुष्ट होती है।

श्रद्धा को अन्धविश्वास समझना बहुत बड़ी भूल है। अन्धविश्वास तो आधारहीन है। जब तक हमारे साथ अच्छा-अच्छा घटता रहे हम सोच सकते हैं कि नीम के पेड़ के नीचे धूनी रमाकर बैठे बाबाजी की कृपा से हो रहा है पर कष्ट पड़े तो? जिसे भगवान की करुणा और दयालुता पर श्रद्धा है वही समझेगा कि भगवान जो कुछ करते हैं मेरे भले के लिए ही करते हैं, उन्होंने यदि मुझे कष्ट दिए हैं तो वह इसलिए कि वे इन्हीं के द्वारा मेरी साधना करना चाहते हैं तब उसे जीवन की तमाम मुश्किलों के बीच यह अनुभव बना रहेगा कि भगवान की नजर है उस पर, वे उसे देख रहे हैं, उसके साथ चल रहे हैं और इसलिए जरूरत पड़ने पर गोद में भी उठाएंगे। ऐसे में कष्ट जितने अधिक होंगे, साधक उतना कसकर प्रभु के चरणों को पकड़ेगा।

ज्ञान का अधिकारी बनने के लिए श्रद्धा अत्यंन्त आवश्यक है। 'जो हम अपनी आंखों से देख रहे हैं वह सत्य नहीं मिथ्या है, सत्य तो कुछ और ही है जिसकी हमें खोज करनी है,' यह भावना तभी आ सकती है जब हमारे मन में श्रद्धा हो और हम प्रयत्न तभी कर पाएंगे जब यह भावना आए।

ज्ञान की दूसरी अंतरंग साधना अर्थात् बुद्धि की पात्रता भगवान तत्पर शब्द द्वारा अंकित कर रहे हैं। सदा सजग, सचेत और नई बातों को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहने वाला शिष्य ही इस सूक्ष्म ज्ञान को ग्रहण कर सकता है। जो अपनी पुरानी मान्यताओं को छोड़ने तैयार न हो, जो यह कहे कि मैं कैसे मान लूं इस मूर्ति में भगवान है, यह तो पत्थर है, ऐसा व्यक्ति कुछ सुनने को तैयार नहीं होगा तो गुरु ज्ञान देगा किसे?

तीसरी पात्रता है इंद्रियों का संयम। यह शरीर के स्तर पर है। जब तक हमारी इन्द्रियां निरंकुश होकर विषयों में विचरण करती रहेगी हम यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाएंगे।

और अंत में भगवान कहते हैं कि ज्ञान के पाने के बाद परम शांति तुरन्त मिल जाती है। पिछले श्लोक में ज्ञान प्राप्ति के लिए कहा था कि उसमें समय लगता है- कालेनात्मनि विन्दति। ज्ञान प्राप्ति के लिए साधना जो करनी पड़ती है किंतु ज्ञान प्राप्त होने के बाद शांति साथ-साथ मिल जाती है। हमारा सत्यस्वरुप तो निश्चल, निर्विकार आत्मा है ही। सारी अशांति तो काम, क्रोध, मोह, लोभ, राग, द्वेष, कामना, लालसा, अहंकार आदि वासनाओं के कारण उत्पन्न होती है। अशांति दूर होते ही शांति में विलम्ब कहां? इसे परम शांति कह कर भगवान यह संकेत कर रहे हैं कि इच्छा पूर्ति से मिली शांति की भांति यह शांति अस्थाई नहीं है। शांति का अथाह सागर हमारे हृदय में विराजमान है जो वासना की सतही लहरों के कारण चंचल नजर आताा है। लहरों के लुप्त होते ही हम इस शाश्वत सुख और आनन्द का अनुभव कर पाएंगे।

भगवान को इतना कहकर शायद संतोष नहीं हुआ इसलिए अगले श्लोक में इसके विपरीत लक्षण और उनके दुष्फल की चर्चा करते हैं-

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

अज्ञानी, श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष विनष्ट हो जाता है। सन्देह करने वाले के लिए न तो इस लोक में ही सुख है न परलोक में।

पिछले श्लोक में ज्ञान का फल बताते हुए उसका महत्व प्रदर्शित करने के बाद अब इस श्लोक में ज्ञान के अभाव का फल बताते हुए भी ज्ञान के महत्व को ही प्रतिपादित कर रहे हैं।

भगवान कहते हैं कि अज्ञ और श्रद्धारहित व्यक्ति संशय का शिकार होकर व्यर्थ इधर-उधर भटकता है, वह कभी भी साधना में मन को एकाग्र नहीं कर पाता और पथभ्रष्ट हो जाता है। हर समय संशय में रहने वाला व्यक्ति तो इस लोक में ही कुछ भी काम ठीक से नहीं कर पाता है। काम ठीक न होने के कारण उसे सफलता-सुख नहीं मिलता।

कुछ लोग स्वभाव से ही शंकालु होते हैं। वे कभी भी निर्णय ले नहीं सकते। सर दर्द हो रहा है तो दवा लें कि न लें यह भी वे दूसरों से ही पूछते रहते हैं, भूख लगी है पर खाना अभी खाएं या दस मिनट बाद, रुक कर, इसके लिए भी वे निश्चित नहीं हो पाते हैं- 'पता नहीं यह काम करना ठीक रहेगा कि नहीं। जा तो रहा हूं लेकिन पता नहीं उस आदमी से मुलाकात हो पाएगी कि नहीं, नहीं मिला तो क्या फायदा होगा? दोपहर में जाना ठीक रहेगा कि अभी ठीक रहेगा? लगता है यह काम बनने वाला नहीं, क्यों न फलां काम की बात सोची जाए ...' इस प्रकार संशय में पड़ा वह पहला काम छोड़ देगा और दूसरे की सोचना शुरू करेगा और दूसरे के लिए भी उसकी संशयात्मक प्रवृत्ति वैसे ही चलती रहेगी, उसे कुछ करने नहीं देगी। इस प्रकार वह संसार में कोई उपलब्धि, कोई सफलता प्राप्त नहीं कर पाता।

जब संसार के मामूली कार्य भी संशयात्मक स्वभाव के कारण सम्पन्न हुए बिना ही रह जाते हैं तो आत्मज्ञान तो बहुत बड़ी बात है। शिष्य अज्ञ है गुरु ज्ञानी। उसने शास्त्रों को भी पढ़ा है, मनोविज्ञान भी समझा है। वे समझ पाते हैं कि किस व्यक्ति के लिए कौन सी साधना उचित रहेगी,

उसे उसी के लिए प्रेरित करते हैं। स्वामी शिवानन्द जी के आश्रम में एक साधक था वह यदि वेदान्त के प्रवचन में बैठता तो वे उसे डांट कर उठा देते थे और कहते थे- 'तुम यहां क्या कर रहे हो, जाओ बैठ कर भजन करो।' वे जानते थे कि उसके लिए वही मार्ग उपयुक्त है। अब ऐसा शिष्य यदि गुरु वचनों में श्रद्धा कर उनके आदेशों का पालन करे तो उसका उद्धार होगा लेकिन यदि वह संशय करे- पता नहीं गुरुजी मुझे क्यों हटा देते हैं, वे शायद मुझे मूर्ख समझते हैं या हो सकता है मुझे चाहते नहीं। ऐसे गुरु के पास रहकर क्या होगा? भजन करने से उद्धार कैसे होगा? मुझे तो वेदान्त पढ़ना ही चाहिए। दूसरे गुरुजी के पास जाना ठीक रहेगा कि यहीं रहना? इस प्रकार के संशय न उसे वेदान्त का अधिकारी बना सकते हैं न भजन में एकाग्र कर सकते हैं।

इसीलिए भगवान कहते हैं कि अज्ञान है और श्रद्धा नहीं है तो संशय के कारण मनुष्य न इस लोक में सुख ही भोग सकता है न ही आत्मोद्धार कर सकता है। लेकिन अज्ञान होने पर भी जिसके मन में श्रद्धा है, इन्द्रियों पर संयम है और जिज्ञासा है वह प्रयत्न करे तो योग को प्राप्त हो सकता है।

कर्म सन्यास योग का उपसंहार करते हुए भगवान कहते हैं-

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।४१।।

हे धनंजय, जिसने योग का सहारा लेकर अपने सम्पूर्ण कर्मों का सन्यास कर दिया है जिसके सारे संशय ज्ञान द्वारा नष्ट हो चुके है ऐसे आत्मवशी पुरुष को कर्म नहीं बांधते।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

इसलिए हे भारतवंशी अर्जुन तू हृदय में स्थित अपने अज्ञान जनित संशय का विवेक ज्ञान रूप तलवार के द्वारा छेदन करके योग में स्थित हो जा और (युद्ध के लिए) खड़े हो जा।

अर्जुन कर्मों का त्याग करना चाहता था। वह युद्ध छोड़कर भिक्षाटन पर निर्वाह करना चाहता था। युद्ध करना उचित है या नहीं इसमें भी उसे संशय था और उसे यह भी भय था कि युद्ध में असंख्य लोगों की हत्या तथा अन्य दुष्परिणामों के पाप का भागी होगा। भगवान कर्म करने की कला अर्थात् कर्म योग का उपदेश देने के बाद अब अंत में उसे आश्वासन देते हैं कि कला को जान लेने के बाद कर्मों का त्याग नहीं कर्मों का संन्यास हो जाता है। मैं कर्ता या भोक्ता नहीं हूं इस ज्ञान के साथ कर्म करना कर्म सन्यास है, अज्ञानता पूर्वक कर्म को करना बंधन में पड़ना है। अज्ञानता पूर्वक कर्म का त्याग करना अपने कर्तव्य से च्युत होना है लेकिन कर्म की कला के ज्ञान के साथ अपने आत्म स्वरूप में स्थित होकर कर्म करने से कर्तव्यच्युतता भी नहीं होती और कर्म बन्धन भी नहीं होता।

और उसी स्वर में वे अर्जुन का आह्वान करते हैं- हे अर्जुन मैंने जो ज्ञान तुम्हें दिया है इस तलवार के द्वारा तुम अपने सारे अज्ञानजनित संशयों को काट डालो और कर्म योग का अनुसरण करो।

अंत में अपने चिर-परिचित बात पर उतर आते हैं- अर्जुन बैठे मत रहो, युद्ध करो, संघर्ष करो। बुराई और अनाचार से युद्ध करो, बुरे और अनाचारी से नहीं। संसार में व्यवहार करते समय हमारा दिशा निर्देशक हमारा विवेक हो, हमारा आदर्श हो, हमारी नि:स्वार्थता हो, हमारी ममता न हो, हमारी अंहता न हो, हमारी फल-कामना न हो तो हमारे सारे कर्म उस परमपिता की पूजा बन जाते हैं। जीवन के तनाव से मुक्ति पाने का यही सबसे प्रभावशाली उपाय है जिसका आह्वान भगवान श्री कृष्ण बार-बार करते हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद में ज्ञान कर्म सन्यास योग नामक चतुर्थ अध्याय पूर्ण हुआ।

ॐ तत् सत्